प्रकाशक सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन,
राजघाट, वाराणसी-१
मुद्रक . विश्वनाथ भार्गव,
मनोहर प्रेस,
जतनवर, वाराणसी
संस्करण पहला
प्रतियाँ . २,०००, फरवरी, १९७५

मूल्य
तीन रुपये
Rs. 3 00

Title : SUNDAR MANAV
SUNDAR SAMAJ
Author . Javahirlal Jain
SARVA-SEVA-SANGH-PRAKASHAN
RAJGHAT, VARANASI-1

दो शब्द

मानव-सेवा-सघ की विचारधारा से मेरा परिचय बहुत पुराना नही है। कोई दस-पन्द्रह वर्ष का ही होगा। इसके प्रवर्तक सन्त से परिचय तो इसके भी बहुत बाद हुआ। प्रारम्भ में ही मैं इस विचारधारा से बहुत प्रभावित हो गया, खासकर इसकी सूत्रमय और अत्यन्त तर्कपूर्ण शैली से तथा मानव को योग, बोध और प्रेम की सिद्धि की ओर बढाने के लक्ष्य से। इसी सिद्धि का दर्शन मुझे सन्त में हुआ। फिर, अन्य सर्वोदय-विचारक और कार्यकर्ता उनके सम्पर्क में आये। ये सन्त सर्वोदय-सम्मेलन में भी शामिल हुए। वहाँ मानव-सेवा-संघ की विचारधारा से देशभर के सर्वोदय-प्रेमी परिचित और प्रभावित हुए। वही यह विचार स्वाभाविक ही उठा कि मानव-सेवा-सघ की विचारधारा का अधिक परिचय सर्वोदय-कार्यकर्ताओ और आम जनता को व्यापक रूप से मिले तो बहुत अच्छा होगा। सर्व-सेवा-सघ-प्रकाशन ने इस प्रकार की पुस्तक के प्रकाशन का तय किया और इसे तैयार करने की जिम्मेदारी मुझे दी।

मानव-सेवा-सघ की विचारधारा में आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक तीनो दृष्टिकोणो का समावेश है। विशेष बल आधिदैविक पहलू पर है। पर, आज के विचारको तथा आम जनता की रुचि सामाजिक और नैतिक पहलू से आगे नही जाती। इनका ज्यादा ध्यान सामूहिक तथा सामाजिक उन्नति और समृद्धि की ओर ही रहता है। इसलिए मेरा यह विचार बना कि मनुष्य के वैयक्तिक विकास और समाज-निर्माण के पहलुओ पर मानव-सेवा-संघ की जो विचारधारा है, उसीका समावेश इस पुस्तक में विशेष रूप से किया जाय। दूसरी बात यह लगी कि यह विचारधारा जिस प्रकार की सूत्रबद्ध, सक्षिप्त और तर्कपूर्ण भाषा में सन्त

के द्वारा प्रकट हुई है, उसे यथासम्भव उन्हीकी भाषा में रख देना उचित और उपयोगी होगा। परिणामस्वरूप यह सकलन आपके सम्मुख है।

यह पुस्तक तीन खण्डो में विभाजित है। पहले खण्ड में सुन्दर व्यक्ति का निर्माण किस प्रकार हो सकता है, इसका सक्षिप्त विवेचन है। दूसरे खण्ड में सुन्दर समाज के निर्माण के सम्बन्ध में स्वामीजी के विचारो का समावेश है। तीसरे खण्ड में स्वामीजी से जो कुछ चर्चाएँ तथा प्रश्नोत्तर गत वर्ष हुए, उनके सार का संकलन है। पहले दो भागो में मानव-सेवा-सघ द्वारा प्रकाशित स्वामीजी के भाषणो और पत्रो के सग्रहो में से सम्पादित करके स्वामीजी के विचार, यथासम्भव स्वामीजी के शब्दो में ही, दिये गये हैं।

इस प्रयास में मुझे अनेक मित्रो की सहायता और सहयोग मिला है। खासकर सन्त की प्रधान शिष्या श्री देवकीबहन ने सारी पाण्डुलिपि को देखा है, अपने सुझाव दिये हैं तथा भूमिका लिखी है। मानव-सेवा-सघ की प्रकाशन-समिति के अध्यक्ष श्री मदनमोहन वर्मा ने प्रारम्भ से ही इस कार्य के प्रति बहुत सहानुभूति रखी है। मैं इसके लिए उन दोनो बन्धुओ का हृदय से आभारी हूँ।

जीवनज्योति,
ए २१, बजाजनगर,
जयपुर-४
दीपावली, १९७३

—जवाहिरलाल जैन

भूमिका

मानव-सेवा-सघ के प्रवर्तक सन्त से परिचित सर्वोदय के कतिपय साधको मे यह सकल्प उठा कि मानव-सेवा-सघ की सर्वहितकारिणी विचार-धारा को पुस्तकाकार में प्रकाशित किया जाय, जिससे अधिक विस्तृत क्षेत्र के साधक, विचारक और कार्यकर्ता सघ द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शन और साधन-प्रणाली से लाभान्वित हो सकें। प्रस्तुत सकलन उसी सकल्प का परिणाम है। अनुकूल परिस्थितियो के अभाव में यह ग्रन्थ वैसा नही वन सका है, जैसा कि हम लोगो ने सोचा था। फिर भी प्राप्त परिस्थिति मे जो सम्भव हो सका है, तदनुरूप पुस्तक आपके सम्मुख है।

सभी का उत्कर्प अर्थात् सर्वोदय मे आस्था रखनेवाले भाई-वहनो के लिए मानव-सेवा-सघ के ये विचार वहुत ही उपयोगी हैं .

(१) व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण एक ही जीवन के दो पहलू हैं। दोनो में अन्योन्याश्रय सम्बन्व है। यह सर्वमान्य सत्य है कि व्यक्ति और समाज में अविभाज्य सम्वन्ध है। कारण कि व्यक्ति समाज के अधिकारो का पुन्ज है और समाज व्यक्ति का कर्तव्य-क्षेत्र है। मानव पर सभी का अधिकार है और वह स्वय अधिकार-मुक्त है। कारण कि उसकी जो मांग है उसकी पूर्ति में शरीर और ससार समर्थ नही है। उसे जो जीवन चाहिए, वह तो उसीमें मौजूद है। इस तथ्य को अपना लेने पर स्वत सर्वात्म-भाव तथा सर्वहितकारी प्रवृत्ति उदित होती है। यह जीवन का सत्य है। सत्य को स्वीकार करने पर ही अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण होता है।

(२) 'कर्म' कर्ता का चित्र है। कर्ता के अनुरूप ही कर्म होता है। कर्म से कर्ता की उत्पत्ति नही होती है, अपितु कर्ता से ही कर्म की उत्पत्ति

होती है। जब कर्ता सत्य को स्वीकार कर लेता है तब स्वत सर्वहितकारी सद्भाव उदय होता है, जो सुन्दर समाज के निर्माण का मूल-मन्त्र है। सर्वहितकारी सद्भाव से ही सहज-निवृत्ति और सहज-निवृत्ति से ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्वत होने लगती है, जो वास्तव मे व्यक्ति के कल्याण तथा सुन्दर समाज के निर्माण का अचूक उपाय है।

व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण की समस्या सर्व-हितकारी प्रवृत्तियो का केन्द्रविन्दु है। इसी सन्दर्भ में प्रस्तुत पुस्तक के सकलनकर्ता ने मानव-सेवा-सघ के मुख्य प्रकाशनो का अध्ययन किया है। उनमें से मानव-जीवन की मौलिक समस्याओ के समाधान के लिए प्रति-पादित जीवन-विज्ञान, जीवन-दर्शन एवं आस्था-तत्त्व पर आधारित विचारो एव साधन-प्रणालियो के कुछ अशो को उद्धृत किया है। ये अश जिस पुस्तक से लिये गये हैं, उन्हीं पुस्तको के नाम शीर्षक के अन्तर्गत रखे गये हैं। इनके अतिरिक्त कुछ प्रश्नो पर विचार-विनिमय द्वारा प्राप्त सघ के प्रणेता के अनूठे उत्तरो को भी लिपिवद्ध किया गया है, जो कि प्रस्तुत पुस्तक में सम्मिलित हैं।

मानव-सेवा-सघ के प्रवर्तक एक मौलिक विचारक और सर्वहितकारी भाव से भावित परम कारुणिक सन्त हैं। उनका अपना एक सिद्धान्त है। वे कहते हैं कि 'सत्य' की खोज की जाती है। 'सत्य' किसी व्यक्ति की उपज नही है। अत. सत्य को किसी व्यक्तिविशेष के नाम से मुक्त रखते हुए उसे अपने शुद्ध रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। यही कारण है कि मानव-सेवा-सघ के प्रकाशनो में कही पर उनका नाम नहीं है। इसीलिए प्रस्तुत सकलन में भी उनका नाम नही दिया गया है। आशा है कि सत्य के उपासक व्यक्तित्व के मोह से सर्वथा मुक्त, उपर्युक्त सिद्धान्त का हृदय से स्वागत करेंगे और जीवन के सत्य को अपनाकर लाभान्वित होगे।

विनीता

१०-१०-'७३

देवकी

आजीवन कार्यकर्ता,

मानव-सेवा-संघ

अनुक्रम

खण्ड : १

खण्ड : २

खण्ड : ३

●

मानव और समाज

- व्यक्ति और समाज में वास्तविक भेद नही किया जा सकता ।
  दूध का कस देखने के लिए उसमे मक्खन कितना है, यह देखा जाता है। इसी प्रकार समाज का कस उसके व्यक्तियो पर से निकाला जाता है ।
  कमरे की हवा मे और बाहर की हवा मे कोई विरोध नही है । यदि मैं इनमे विरोध की कल्पना करके कमरा बद कर लूँगा, तो दम घुटकर मर जाऊँगा ।
- सारा समाज एक शरीर है, हम उसके अवयव हैं ।
- समाज एक सिन्धु है और हम हैं एक बिन्दु । बिन्दु का श्रेय एक सिन्धु मे दाखिल होने मे हो है ।
- मनुष्य के जीवन का कुछ अश व्यक्तिगत होता है, लेकिन बहुत-सा सामाजिक होता है । जो व्यक्तिगत अश होता है वह आकार मे छोटा होता है। लेकिन उसकी गहराई ज्यादा होती है । जो सामाजिक अंश होता है वह आकार मे बहुत बड़ा होता है, परन्तु उसकी गहराई उतनी ही रहती है, जितनी व्यक्तिगत जीवन की होती है ।
- विज्ञान के जमाने में मनुष्य अपना व्यक्तिगत जीवन समाज में जितना लीन करेगा, उतना उसका और समाज का विकास उत्तम होगा ।

विनोबा

१

मंगलमय विधान : १ :

जो कुछ हो रहा है, उसके मूल मे किसी विधान का होना अनिवार्य है। विधान सभी के लिए मगलमय होता है, पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जो करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहते हैं।

कर्ता को कर्म-सामग्री किसी विधान से मिलती है और उस मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग करने के लिए भी प्रत्येक मानव को विवेकरूपी विधान प्राप्त है। विवेकरूपी विधान जिससे प्रकाश पाता है वही अनन्त का मगलमय विधान है। उसी विधान के अधीन सारी सृष्टि कार्य कर रही है, पर उसी मगलमय विधान से मानव को यह स्वाधीनता मिली है कि वह मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का विवेकरूपी विधान के अनुरूप सदुपयोग कर सकता है और विवेक का अनादर कर, दुरुपयोग भी कर बैठता है।

सामर्थ्य का दुरुपयोग ही अकर्तव्य है। अनेक वार सामर्थ्य का दुरुपयोग करने पर भी सामर्थ्य मिलती ही रहती है। विवश होकर भले ही विधान मानव को रोग, शोक आदि मे आबद्ध करे, उसमें भी उसकी अपार करुणा है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब दु खी पर वैधानिक दृष्टि से आये हुए दु ख का प्रभाव हो जाता है। दु ख, जो स्वभाव से ही प्रिय नही है, जिसकी कोई आवश्यकता अनुभव नही करता, उसका निर्माण एकमात्र मगलमय विधान से ही होता है।

यदि जन्म के साथ मृत्यु, सयोग के साथ वियोग, उत्पत्ति के साथ विनाश और प्रवृत्ति के साथ असमर्थता न होती तो न जाने कितनी

भयकर दुर्दशा मानव-समाज की हो जाती। मृत्यु, वियोग, विनाश और असमर्थता क्या मानव को अविनाशी, नित्य, अनन्त, दिव्य-चिन्मय जीवन की ओर अग्रसर होने का पाठ नही पढाती ? यह सभी को विदित है कि पराधीनता की पीडा ने ही स्वाधीनता की माँग प्रदान की है। इसी प्रकार किसी-न-किसी अभाव से ही पूर्णता की माँग जागृत होती है। इतना ही नही, वर्तमान की वेदना मे ही भविष्य की उपलब्धि निहित है।

जो हो रहा है, वह सभी के लिए हितकर है, पर जो कर रहे हैं, उसी पर विचार करना है। विवेक-विरोधी सम्बन्ध, विश्वास तथा कर्म विधान का अनादर है। उसीका परिणाम है अकर्तव्य, आसक्ति, असाधन आदि की उत्पत्ति, जो विनाश का मूल है। विवेक-विरोधी कर्म के त्याग मे ही कर्तव्यपरायणता और विवेक-विरोधी सम्बन्ध के त्याग में असगता एव विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग करते ही उसकी शरणागति स्वत प्राप्त होती है, जिसे देखा नही है। विधान का आदर करने पर कर्तव्यपरायणता, असगता एवं शरणागति स्वत प्राप्त होती है। कर्तव्य-परायणता जगत् के लिए, असगता अपने लिए और शरणागति प्रभु के लिए उपयोगी होती है।

व्यक्तिगत भिन्नता के कारण श्रम-साध्य उपाय सभी के लिए समान रूप से सम्भव नही हैं। इसलिए श्रम-साध्य, उपायो का सम्बन्ध एकमात्र प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही है। परिस्थिति का सदुपयोग करने पर जो सभी परिस्थितियो से अतीत वास्तविक जीवन है, उसमें मानव का प्रवेश एकमात्र विश्राम से ही साध्य है। यह कैसा अनुपम विधान है कि व्यक्तिगत भिन्नता होने पर भी सर्वोत्कृष्ट जीवन मे विश्राम के द्वारा सभी साधको का समान रूप से प्रवेश हो सकता है। विधान करुणा, उदारता, आत्मीयता से परिपूर्ण है। इस दृष्टि से विधान के आदर मे ही मानव का सर्वतोमुखी विकास निहित है।

व्यक्तिगत भिन्नता में भी विधान का एक अद्‌भुत चमत्कार है, कारण कि व्यक्तिगत भिन्नता के आधार पर ही व्यक्ति और समाज, शरीर और

विश्व, दो वर्गों, दो देशों, दो दलों में एकता की स्थापना होती है। व्यक्तिगत भिन्नता एक-दूसरे के लिए पूरक है।

मानव, भले ही जो हो रहा है उसका, प्रमादवश, आदरपूर्वक स्वागत न करें, पर जो व्यक्ति का किया हुआ नहीं है, वह समष्टि शक्तियों से निर्मित है। समष्टि शक्तियाँ मगलमय विधान के अधीन हैं।

जिस किसी मानव को जो कुछ मिला है वह उससे मिला है, जो उसका परम सुहृद् है और इसीके द्वारा निर्मित मगलमय विधान है अर्थात् अपने को जो मिला है वह विधान से मिला है। मिले हुए के दुरुपयोग से निर्बलता स्वत आती है और मिले हुए के सदुपयोग से उत्तरोत्तर बल की वृद्धि स्वत. होती है।

इस कारण करने में सावधान रहना अनिवार्य है, किन्तु जो हो रहा है, वह मंगलकारी है, यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा, जब होने में शान्त होकर, जो रहा है, उसका प्रभाव होने दिया जाय।

शरीर और विश्व का विभाजन सभव नहीं है। इस दृष्टि से शरीर और विश्व दोनों का मालिक एक है, दो नहीं। किन्तु शरीर को अपना मानना और समस्त विश्व को अपना न मानना क्या विधान का अनादर नहीं है?

इस विधान के अनादर का बडा ही भयकर परिणाम यह हुआ कि दो व्यक्तियों, वर्गों, देशों तथा इज्मो एव मजहबो में परस्पर सघर्ष उत्पन्न हो गया है, जो विनाश का मूल है।

शरीर से तादात्म्य स्वीकार करना भूल है। यह भूल तभी होती है, जब मानव वास्तविकता का आदर नहीं करता।

जब व्यक्तिगत कोई वस्तु है ही नहीं, तब वस्तुओं का दुरुपयोग करना, उनके सग्रह में रुचि रखना, उनका उपयोग सर्वहितकारी सद्भावना से न करना जडता है।

मिली हुई वस्तु किसीकी देन है।

वस्तुओं का सदुपयोग करने पर व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित होती है और निर्मम होने से मानव में निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है।

एकता में समस्त सघर्षों का विनाश है और निर्विकारता में सौन्दर्य विद्यमान है। सघर्ष का नाश और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति विधान के आदर मे निहित है। विधान का अनादर करने पर ही सघर्ष एव असुन्दरता की उत्पत्ति होती है।

ज्ञान के अनादर में विधान का अनादर है और विधान के अनादर में अपना विनाश है। अत निज ज्ञान का आदरपूर्वक अनुसरण करते ही विधान के आदर की सामर्थ्य और विधान का वोध स्वत होता है।

विधान के आदर से राग-रहित और राग-रहित होने से विधान का वोध होता है।

रागयुक्त प्राणी न तो विधान को जान ही पाता है और न उसका आदर ही कर पाता है। राग का अन्त करने के लिए ही न चाहने पर भी सुख चला जाता है। सुख के जाने पर दु खी हो जाना विधान का अनादर है। सुख आने पर उसका उदारतापूर्वक सदुपयोग न करना, अपितु सुख में आसक्त हो जाना विधान-विरोधी कृत्य है।

सुख-दु.ख साधन-सामग्री है, साध्य नही। साधन-सामग्री का सदुपयोग न करना विधान का अनादर है। विधान का आदर करने के लिए मानव-मात्र को उत्साहपूर्वक तत्पर रहना अनिवार्य है।

जिस प्रकार भूख, प्यास सभी की समान और तृप्ति में भी एकता है, उसी प्रकार शान्ति, स्वाधीनता एव प्रेम की प्राप्ति मे भी सभी समान हैं। भोजन और साधन दो व्यक्तियो का भी सर्वांश में समान नही है। किसी न किसी अश में विपमता रहती ही है। दो व्यक्तियो की भी रुचि, सामर्थ्य तथा योग्यता एक नही है, किन्तु लक्ष्य सभी का एक है। यदि इस वैधानिक तथ्य का आदर किया जाय, तो भोजन तथा साधन की भिन्नता रहने पर भी परस्पर एकता रह सकती है। लक्ष्य की एकता और योग्यता, रुचि, सामर्थ्य आदि की भिन्नता स्वीकार करना विधान का आदर है।

वास्तविकता की माँग की जागृति वैधानिक तथ्य है और अस्वाभाविक इच्छाओ में आवद्ध हो जाना विधान का अनादर है।

विवेकरूपी विधान का अनादर करने पर देहाभिमान के कारण इच्छाओ मे स्वाभाविकता प्रतीत होती है, किन्तु जब सभी कामनाएँ पूरी होती ही नही तो कामनाओ को स्वाभाविक मानना क्या विधान का अनादर नही है ?

सभी कामनाओ के मूल मे जो मानव की स्वाभाविक माँग है उसका अनुभव तभी होता है, जब इस विधान का उत्साहपूर्वक आदर किया जाय कि कामना-पूर्ति-जनित सुख-लोलुपता वास्तविक जीवन नही है।

सुख की अनुभूति होने पर उदारता को और दु ख की अनुभूति होने पर त्याग को अपनाना विधान का आदर है।

सुख की दासता तथा दु ख का भय तभी तक जीवित रहता है, जब तक मानव विधान का आदर नही करता, जो अवनति का मूल है।

सुख-काल मे यदि दुःख की स्मृति रहे तो बडी ही सुगमतापूर्वक सुख की वास्तविकता का बोध हो सकता है, जिसके होते ही सदा के लिए पराधीनता-जनित सुख का प्रलोभन मिट जाता है, जो विकास का मूल है। उसी प्रकार दु ख मे यदि सुखद स्मृतियो को महत्त्व न दिया जाय तो दु ख का प्रभाव दु खी को दु ख-रहित कर उस जीवन से अभिन्न कर देता है, जिसमे शान्ति, स्वाधीनता एव प्रेम से भिन्न कुछ नही है, जो मानव की वास्तविक माँग है।

यदि मानव-जीवन में कोई माँग न होती और उस पर कोई दायित्व न होता तब तो मानव को साधक मानना भूल होती, परन्तु कोई भी मानव यह अनुभव नही करता कि मेरी कोई माँग नही है और मुझ पर कोई दायित्व नही है।

जब मानव दायित्व पूरा करता है तब माँग पूरी होती है। दायित्व पूरा करने की सामर्थ्य विधान से मिलती है। इस दृष्टि से विधान मगल-कारी है। विधान मे आस्था, श्रद्धा, विश्वास होने पर मानव करने मे सावधान तथा होने में प्रसन्न रहता है। सावधानी कर्तव्यपरायणता की जननी है और प्रसन्नता, क्षोभ तथा क्रोध के नाश में समर्थ है। कर्तव्य-

परायणता से मानव-जगत् के लिए और क्षोभ तथा क्रोध से रहित होने पर अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

अब यदि कोई यह कहे कि विधान तो है, पर विधायक नही है, यह कथन ऐसा ही होगा, जैसे कोई कहे कि प्रकाश और उष्णता तो है, पर सूर्य नही है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि बुद्धि-दृष्टि से जो कुछ देखा जाता है उसको तो स्वीकार किया और जो बुद्धि का प्रकाशक है उसको अस्वीकार किया। उसके अस्वीकार करने पर भी वह सभी के लिए समान है, कारण कि यह उसीकी महिमा है कि जिसने ऐसे मानव का निर्माण किया, जो उसे ही अस्वीकार कर सकता है। विधान का आदर करने पर जीवन अपने लिए और जगत् के लिए उपयोगी होता है और विधायक में अविचल आस्था करने पर मानव विधायक के लिए उपयोगी होता है।

कर्म कर्ता का चित्र है। कर्म, कर्ता और फल ये कर्ता के ही रूपान्तर हैं। पर स्वार्थ-भाव में आबद्ध मानव कर्ता, कर्म और फल में जातीय भेद मानता है, जो अवैधानिक है। स्वार्थ-भाव की उत्पत्ति पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने से होती है। पराधीनता में असह्य वेदना का जाग्रत होना उसीकी देन है, जो मानव को स्वाधीनता से अभिन्न करना चाहता है।

जब तक कर्ता फलासक्ति में आबद्ध है तब तक कर्ता, कर्म और फल में भेद है। फलासक्ति तथा कर्तृत्व के अभिमान से रहित होने पर कर्ता कर्म होकर दूसरो के अधिकार की रक्षा कर स्वय कर्म और फल से अभिन्न हो जाता है, जिस प्रकार कर्ता, कर्म और फल कर्ता का ही चित्र है, उसी प्रकार विधान विधायक का चित्र है। कर्ता निष्काम होने पर कर्तापन से रहित होता है, पर विधान और विधायक में विधान के रहते हुए भी विधायक ज्यो का त्यों रहता है।

अनन्त का विधान अनन्त है। मानव ज्यो-ज्यो विधान का आदर करता जाता है त्यो-त्यो उसे स्वयं विधान का बोध होता जाता है। विधान

मानव की खोज हैं, उपज नही। खोज 'है' की होती है। अतएव जो विधान है, उसीका बोध मानव को होता है। सर्वांश में विधान का आदर करने पर मानव को उससे अभिन्नता हो जाती है, जिसका विधान है। विधान उत्पत्ति-विनाश-युक्त नही है, अपितु अविनाशी है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विधान अविनाशी का ही-स्वभाव है। मानव विधान से अभिन्न होने पर अविनाशी से अभिन्न हो जाता है।

अल्प-से-अल्प आयु, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य होने पर भी मानव को वास्तविक जीवन से निराश नही होना चाहिए, कारण कि वास्तविक जीवन से मानवमात्र की जातीय तथा स्वरूप की एकता है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से मानव की जातीय भिन्नता है। वस्तु, योग्यता आदि की जातीय एकता 'यह' अर्थात् सृष्टि के साथ है, 'मैं' के साथ नही। मानव साधक है, शरीर आदि वस्तु नही। साधक पर मिले हुए सदुपयोग का दायित्व है। जो नही कर सकता वह मानव को नही करना है और विधान-विरोधी अर्थात् जो नही करना चाहिए वह भी नही करना है। इस दृष्टि से जो करना चाहिए तथा जिसे कर सकते हैं वही करना है, और उसीका यह फल होगा कि वह वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जायगा। इतना ही नही, आवश्यकतानुसार आयु, सामर्थ्य, योग्यता एवं वस्तु सफलता के लिए मानव को मगलमय विधान से स्वत मिलती रहती है। मगलमय विधान में अविचल आस्था न होने से ही मानव निराश होता है, जो उसका अपना वनाया हुआ दोष है। करने में सावधान तथा होने मे प्रसन्न रहने से मगलमय विधान मे अविचल आस्था स्वत हो जाती है, जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है। विवेक-विरोधी कर्म, सवध तथा विश्वास का अन्त करने पर करने में सावधानी स्वत आ जाती है, जिसके आते ही प्रत्येक कार्य के अन्त में निश्चिन्तता तथा- निर्भयता की अभिव्यक्ति होती है और फिर जो हो रहा है उसमें अपने हित का ही दर्शन होता है, जो प्रसन्नता प्रदान करने में हेतु है।

जो नही करना चाहिए तथा जिसे नही कर सकते, इसका ज्ञान मानव को विधान से प्राप्त है। इस विधान का आदर करने पर अशुद्ध

तथा अनावश्यक कर्म मिट जाते हैं, कारण कि जो नहीं करना चाहिए उसके न करने पर अशुद्ध कर्म नही रहते है और जो नहीं कर सकते उन सकल्पो का त्याग करने पर अनावश्यक कार्य जमा नही रहते । उसका परिणाम यह होता है कि जो कर सकते हैं और जो करने योग्य है वह कार्य पूरा हो जाता है । कार्य की पूर्ति होने पर यदि कर्ता मे कर्म की फलासक्ति नही है तो अपने-आप विश्राम की अभिव्यक्ति होती है। विश्राम ही में आवष्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एव प्रीति की जाग्रति स्वत होती है, जो विकास का मूल है। विश्राम के सम्पादन में मानव असमर्थ तथा पराधीन नही है । विश्राम के सम्पादन की स्वाधीनता मानव को विधान से मिली है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति के विना कर्तव्यपरायणता और विचार का उदय हुए विना देहाभिमान का नाश एव प्रीति की जाग्रति के विना अनन्त रस की अभिव्यक्ति सभव नहीं है ।

असाधन-रहित प्रत्येक साधन सिद्धिदायक है, यह मगलमय विधान है। अपने-अपने जाने हुए साधन के त्याग का दायित्व मानवमात्र पर है, किन्तु विध्यात्मक साधन व्यक्तिगत है । व्यक्तिगत साधन को सामूहिक वनाने का प्रयास साधन में असाधन को जन्म देता है । यद्यपि व्यक्तिगत साधन भी साधन है, परन्तु सभी के लिए सभव न होने के कारण उसका आग्रह करना, वलपूर्वक कराने का प्रयास करना साधक के प्रति घोर अत्याचार है। अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के अनुरूप अपने साधन में अपने प्रति आग्रह होना चाहिए । आग्रह से दृढता आयेगी, जो साधन मे तत्परता प्रदान करेगी । जव साधक और सावन में एकता नही होती तव साधन और जीवन मे भेद रहता है । वास्तव में साधन जीवन है, जीवन से भिन्न नही। साधन और जीवन में भिन्नता आशिक असाधन के रहते हुए ही रहती है। सर्वांश में असाधन का नाश होने पर साधन और जीवन में भेद नहीं रहता अर्थात् साधन से भिन्न साधक का अस्तित्व ही नही रहता, तभी साधक, साधन और साध्य में अभिन्नता होती है, जो वास्तविक जीवन है ।

साधननिष्ठ मानव-समाज मे परस्पर स्नेह की एकता रहती है। स्नेह की एकता ही एकमात्र सघर्ष के नाश में हेतु है। अपने-अपने मजहब तथा इज्म के आधार पर स्नेह की एकता से भिन्न किसी अन्य प्रकार की एकता की स्थापना का प्रयास करना परस्पर दलवन्दी तथा सघर्ष को जन्म देना है, जो विनाश का मूल है। अपनी-अपनी मान्यताओ से अपने को सुन्दर बनाकर प्राप्त सुन्दरता से समाज की सेवा करना हितकर है। पारस्परिक सहयोग द्वारा भिन्नता मे एकता स्थापित होती है। आग्रह तथा अधिकार तो एकता के नाम पर भिन्नता को ही पोषित करना है। जो बुराई बुराई के वेश मे आती है उससे उतनी क्षति नही होती, जितना विनाश उस बुराई से होता है, जो भलाई का वेश धारण कर आती है। सुधार के नाम पर सघर्ष का जन्म इसी प्रमाद से होता है। आग्रह तथा अधिकारलोलुपता ने ही सीमित अहभाव को जन्म दिया है, जो विनाश का मूल है।

सीमित अहभाव के कारण ही ममता, कामना एव तादात्म्य का पोषण होता है। समस्त विकारो की भूमि ममता है और पराधीनता एव अशान्ति की जननी कामना है एव तादात्म्य से ही परिच्छिन्नता जीवित रहती है, जिसके रहते हुए अनेक प्रकार के भेद तथा भिन्नता उत्पन्न होती है, जो अवनति का मूल है। इस दृष्टि से अहभाव का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र अचाह, अप्रयत्न एव समर्पण से ही सभव है।

यह सभी को विदित है कि मानव को क्रिया-शक्ति, विवेक-शक्ति तथा भाव-शक्ति प्राप्त है। भाव-शक्ति के सदुपयोग द्वारा मानव विना जाने, सुने हुए प्रभु मे अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार कर सकता है, जिसके करते ही अह और मम का नाश हो जाता है और अगाध अनन्त, नित-नव प्रियता जाग्रत होती है। अहं और मम के नाश होने से समस्त कर्मों का फल नाश हो जाता है और प्रियता के जाग्रत होने से नित-नव-रस की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तविक माँग है।

जिस किसी मानव को जो कुछ मिला है, विधान से मिला है और मिले हुए का सदुपयोग जगत् के लिए उपयोगी है। जो वस्तु-सामर्थ्य, योग्यता जगत् की सेवा के लिए मिली है उसके द्वारा अपने सुख के सम्पादन का प्रयास करना दु ख को निमन्त्रण देकर बुलाना है और उसके आने पर भयभीत होना, यह मानव की भूल है। सेवा करते हुए आवश्यक सकल्पो की पूर्ति स्वत होती है। इस दृष्टि से मिला हुआ अपने लिए नही, अपितु सेवा-सामग्री है। जब तक मानव मे सेवा की सद्भावना रहती है और वह सेवाजनित सुखभोग नही करता है, यहाँ तक कि मैं सेवक हूँ, इस बात का भी रस नही लेता है, अर्थात् मिले हुए तथा किये हुए से अपना मूल्याकन नही करता है, तब तक बिना ही माँगे मगलमय विधान से सेवा-सामग्री स्वत मिलती रहती है। पर जब मानव सेवा के वेश मे व्यक्तित्व के महत्त्व को पोषित करने लगता है तब न तो सेवा-भाव ही रहता है और न उदारतापूर्वक मिले हुए का सदुपयोग पर-सेवा में करता है और न निर्मम तथा निष्काम होकर शान्ति, स्वाधीनता एव निर्विकारता से अभिन्न होता है, जो अपने लिए उपयोगी है। ●

सत्संग और साधन : २ :

१. अकर्तव्य का नाश : कर्तव्य की अभिव्यक्ति

विवेकविरोधी कर्म अपना जाना हुआ असत् है। उससे ही साधक के जीवन में अकर्तव्य की उत्पत्ति हुई है। अकर्तव्य की उत्पत्ति में ही कर्तव्य की विस्मृति निहित है। कर्तव्य की स्मृति जागृत करने के लिए विवेक-विरोधी कर्म का त्याग अनिवार्य है। विवेक-विरोधी कर्म का त्याग सत्सग और कर्तव्य-परायणता साधन है। विधान के अनुसार सत्सग करने पर साधन की अभिव्यक्ति स्वत होती है।

सत्सग करने पर साधन स्वत होता है। जो स्वत होता है वही जीवन है। इस दृष्टि से साधन साधक के जीवन से भिन्न नहीं है, अपितु साधन ही जीवन है। साधन और जीवन में जो भेद प्रतीत होता है वह एकमात्र असत् के सग का ही परिणाम है। असत् के सग का त्याग करने पर साधक को कुछ भी करना शेष नहीं रहता। करने के अन्त में ही चिरविश्राम निहित है।

मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता को अपना मानना जाना हुआ असत् है। इस असत् के सग से ही विकारो की उत्पत्ति होती है। विकार-युक्त जीवन की माँग न तो साधक को ही है और न जगत् को।

मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता का उपयोग कर्तव्य-पालन ही में है। कर्तव्य का सम्बन्ध पर के प्रति और उसका परिणाम अपने प्रति होता है। कर्मविज्ञान की दृष्टि से दूसरो के प्रति जो कुछ किया जाता है वह विधान के अनुसार अपने प्रति स्वत हो जाता है। मिले हुए की ममता का त्याग करते ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति स्वत होती है, जिसके होते ही मिले हुए का सदुपयोग अपने-आप होने लगता है।

मगलमय विधान के अनुसार जिस किसी साधक को वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के रूप मे जो कुछ मिला है, वह वास्तव मे व्यक्तिगत नही है। जो व्यक्तिगत नही है उसमें ममता करना अपना जाना हुआ असत् है। इस जाने हुए असत् के सग से ही अकर्तव्य की उत्पत्ति हुई है। साधक जिन वस्तु आदि में ममता करता है वे सदैव नही रहती, किन्तु ममता का प्रभाव लोभ, मोह आदि विकारो के रूप में ही उसके हाथ लगता है, जिससे वेचारा साधक अनेक प्रकार के दोषो मे आवद्ध हो जाता है। जीवन में माँग निर्दोषता की है। अत प्रत्येक साधक को कर्तव्यनिष्ठ होने के लिए जाने हुए असत् का त्याग अनिवार्य है।

प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि की ममता से उत्पन्न हुई वस्तुओ में जीवन-बुद्धि हो जाती है, जिसके होते ही साधक मे अप्राप्त वस्तुओ की कामना उत्पन्न होती है, जो उसे शान्त नही रहने देती। कामनाओ के रहते हुए विश्राम सम्भव नही है। विश्राम के विना असमर्थता का अन्त नही होता। उसके हुए विना कर्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति नही होती। कामना-पूर्ति में जीवन-बुद्धि अपना जाना हुआ असत् है। अतएव उसका त्याग अनिवार्य है।

कामना-पूर्ति के सुख का प्रलोभन नवीन कामना को जन्म देता है। और विधान के अनुसार सभी कामनाएँ किसीकी भी पूरी नही होती। इस दृष्टि से अन्त में कामना-अपूर्ति ही शेष रहती है, जो वास्तव मे अभावरूप है। अभाव का अभाव साधक की अपनी माँग है। उस माँग की पूर्ति कामनाओ के नाश में ही निहित है। कामना-पूर्ति तथा अपूर्ति दोनो का उपयोग कामना-निवृत्ति में ही है। कामना-निवृत्ति मे ही चिर-विश्राम निहित है, जो वास्तव में साधन है। साधक विवेकपूर्वक यह भली-भाँति अनुभव कर लेता है कि मिली हुई वस्तु, योग्यता तथा सामर्थ्य न तो व्यक्तिगत है और न अपने लिए है, अपितु उसके द्वारा विश्व की सेवा करनी है। सेवा वही कर सकता है, जो सेव्य पर अपना अधिकार नही मानता और सामर्थ्य के अनुरूप विधिवत् सेव्य के अधिकारो की रक्षा करता है। सेव्य के अधिकारो की रक्षा करने से विद्यमान राग की निवृत्ति होती

है और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति नही होती। अत सेवक वडी ही सुगमतापूर्वक राग-रहित होकर चिर-विश्राम से अभिन्न हो जाता है। चिर-विश्रामरूपी साधन की अभिव्यक्ति ममतारूपी असत् के त्याग से ही सभव है।

अपने प्रति होनेवाली बुराई किसीको प्रिय नही है, जो अपने लिए प्रिय नही है उसे अन्य के प्रति करने की रुचि अपना जाना हुआ असत् है। इस असत् के सग से ही कर्तव्य की विस्मृति और कर्तव्य की उत्पत्ति होती है। अतएव कर्तव्यनिष्ठ होने के लिए इस जाने हुए असत् का त्याग अनिवार्य है।

साधक अपने इस जाने हुए असत् का त्याग करे कि दूसरो की हानि में अपना लाभ, ह्रास में विकास, अवनति मे उन्नति है। जव साधक उस सुख को स्वीकार नही करता, जिसका जन्म किसीके दु ख से हो, उस विकास को नही अपनाता, जो किसीके ह्रास में हो तव उसका विकास अवश्य होता है।

साधक की स्वाधीनता कर्तव्य-पालन में है, अधिकार पाने में नही। अधिकार तो किसी कर्तव्यनिष्ठ की उदारता में है और-कर्तव्यपरायणता साधक का अपना साधन है। जव साधक अपने इस जाने हुए असत् का कि 'अधिकार पाने में स्वाधीनता है', त्याग कर देता है तव वडी ही सुगमता-पूर्वक कर्तव्यनिष्ठ होकर कृतकृत्य हो जाता है। अधिकारलोलुपता साधक को राग तथा क्रोध से रहित नही होने देती। इस दृष्टि से साधक को अधिकारलोलुपता से रहित होना परम आवश्यक है।

साधक को सुख के प्रलोभन तथा दु ख के भय से रहित होना अनि-वार्य है। विधान के अनुसार सुख अपने-आप जाता है और दु ख अपने-आप आता है। जो अपने-आप जाता है उसको वनाये रखने का प्रलोभन तथा जो अपने-आप आता है उससे भयभीत होना अपना जाना हुआ असत् है, कारण कि जो सभव नहीं है उसको सभव वनाने का प्रयास ही तो असत् है।

समस्त असाधन अभिमान में और समस्त साधन निरभिमानता में निहित है। अभिमान की उत्पत्ति किसी न किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति के आश्रित होती है। जब तक साधक परिस्थिति में जीवन-बुद्धि स्वीकार नही करता तब तक अभिमान की उत्पत्ति ही नही होती। अत परिस्थिति में जीवन-बुद्धि अपना जाना हुआ असत् है। उसका त्याग किये बिना निरभिमानता सभव नही है, जो समस्त साधनो की जननी है।

कर्तव्य की अभिव्यक्ति में ही सुन्दर समाज का निर्माण तथा चिर-विश्राम निहित है।

मगलमय विधान के अनुसार जो नही करना चाहिए उसके न करने पर जो कर्तव्य है वह अपने-आप होने लगता है। इस दृष्टि से कर्तव्य-परायणता स्वाभाविक है, साधक का जीवन है। उससे निराश होना और हार स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नही है।

२. पराधीनता का नाश : स्वाधीनता की अभिव्यक्ति

उत्पन्न हुए संकल्पो की जब पूर्ति नही होती, तब प्राणीमात्र पराधीनता का अनुभव करते हैं। मगलमय विधान के अनुसार स्वाधीनता साधक को दिव्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है और पराधीनता देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि में आबद्ध रखती है।

पराधीनता का नाश और स्वाधीनता की अभिव्यक्ति तभी सभव होगी, जब साधक स्वाधीनता के लिए सुख के प्रलोभन और दु ख के भय का सर्वांश में परित्याग करे। विधान के अनुसार दु ख से भयभीत न होने पर दु ख का पूरा-पूरा प्रभाव होता है, जिसके होते ही सुख के प्रलोभन का स्वत नाश हो जाता है। सुख के प्रलोभन का नाश होते ही सकल्प-पूर्ति में जीवन-बुद्धि नही रहती।

संकल्प की अपूर्ति, पूर्ति एव निवृत्ति से सम्बन्ध स्वीकार करना भी स्वाधीनता से विमुख होना है। स्वाधीनता अपने में है और सभी अवस्थाएँ पर में हैं। 'पर' से सम्बन्ध स्वीकार करना अपना जाना हुआ

असत् है। इस असत् के संग ने ही साधक को पराधीनता में आवद्ध किया है। असत् का सग करते हुए उत्पन्न हुई पराधीनता नाश नही हो सकती और उसका नाश हुए विना स्वाधीनता में प्रवेश नही हो सकता।

साधक अपने सकल्प मे ही आप वँध गया है, यद्यपि उत्पन्न हुए सकल्पो से उसकी जातीय भिन्नता है। जिससे जातीय भिन्नता है उससे सम्बन्ध स्वीकार करना असत् का सग है। उत्पन्न हुए सकल्पो से असहयोग सत् का सग है। यदि साधक सकल्पो से सहयोग न करे तो वे अपने-आप मिट जाते हैं। अन्तर केवल इतना है कि आवश्यक तथा शुद्ध सकल्प पूरे होकर मिट जाते हैं और अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्प विना पूरे हुए ही मिट जाते हैं।

जव साधक मे सुख-दु ख से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जागृत होती है तव उसका अपना कोई संकल्प नही रहता। उत्पन्न हुई वस्तुओ की वास्तविकता का परिचय हो जाने पर वस्तु, व्यक्ति आदि में सत्यता तथा सुन्दरता जीवित नही रहती, जिसके न रहने पर संकल्पो से तादात्म्य नही रहता। साधक के तादात्म्य के विना कोई भी सकल्प उसे अपने अधीन नही कर सकता। सकल्प-पूर्ति से जो कुछ मिलता है वह सदैव नही रहता। जो सदैव नहीं रहता वह जीवन नही है। जो जीवन नही है उसमें जीवन-बुद्धि असत् का सग है। इस दृष्टि से सकल्प-पूर्ति में जीवन-बुद्धि न रहने मे सुख-दु ख से अतीत के जीवन की जिज्ञासा स्वत जागृत होती है और फिर वह वड़ी ही सुगमतापूर्वक स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है।

स्वाधीनता के साम्राज्य में नित्य-निवास की माँग साधक की अपनी माँग है। उसकी पूर्ति मे वाधक हैं वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की आसक्ति। उसका मूल एकमात्र अपने को देह और देह को अपना मानना है। यह मान्यता वास्तव में अपना जाना हुआ असत् है, जिसके त्याग का दायित्व साधक पर है।

जब साधक निज विवेक के प्रकाश में यह स्वीकार करता है कि मैं देह नही हूँ, तब देह के सम्बन्ध से उत्पन्न कर्म, चिन्तन और स्थिति से उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। देह के रहते हुए ही साधक देह के प्रभाव से रहित हो जाता है, जिसके होते ही निर्वासना आ जाती है और देह को अपना न मानने से निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है। इस साधन की अभिव्यक्ति होते ही साधक स्वाधीनता के साम्राज्य में स्वत प्रवेश पाता है ।

असत् के सग का प्रभाव और सत् की लालसा जिसमें है, वही साधक है। मगलमय विधान के अनुसार असत् के सग का प्रभाव नाश होते ही सत् की लालसा स्वत पूरी होती है। असत् का त्याग करने पर असत् के सग का प्रभाव स्वत नष्ट होता है, जिसके होते ही सत् का सग तथा साधन की अभिव्यक्ति अपने-आप होती है।

इतना ही नहीं, मगलमय विधान के अनुसार असत् के ज्ञान में ही असत् की निवृत्ति है और असत् की निवृत्ति में ही सत् की प्राप्ति है। अत प्रत्येक साधक विवेक-विरोधी सम्बन्ध को त्यागकर पराधीनता के नाश और स्वाधीनता की अभिव्यक्ति में समर्थ है ।

३ आसक्ति का अभाव और प्रेम की अभिव्यक्ति

विवेक-विरोधी विश्वास साधक का अपना जाना हुआ असत् है। उसका त्याग किये बिना साधनरूप विश्वास की अभिव्यक्ति नहीं होती। जिसके बिना हुए विश्वासपात्र से न तो नित्य सम्बन्ध ही सिद्ध होता है और न प्रेमास्पद मे आत्मीयता ही जागृत होती है। आत्मीयता में अगाध, अनन्त, नित-नवप्रियता निहित है। प्रियता रस की प्रतीक है। रस जीवन की माँग है। इस दृष्टि से नीरसता का नाश करना अत्यन्त आवश्यक है। अतएव साधनरूप विश्वास को सजीव तथा सिद्ध करने के लिए विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग अनिवार्य है ।

विकल्परहित विश्वास साधक का उसीके प्रति हो सकता है, जिसके सम्बन्ध में वह कुछ नही जानता। निज विवेक के प्रकाश में

साधक इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से जिसे देखता है उसमें उसका विकल्परहित विश्वास नही हो सकता। देखे हुए मे विश्वास करने से तो साधक के जीवन में अनेक विकार उत्पन्न हुए हैं। वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि के विश्वास ने साधक को लोभ, मोह, दीनता, अभिमान, परिच्छिन्नता आदि दोषो में ही आवद्ध किया है, जिससे वह वास्तविक जीवन से विमुख हो गया है। इस कारण देखे हुए में विश्वास करना हितकर नही है, अपितु असत् का सग है, जिसका त्याग परम आवश्यक है।

जिससे नित्य-सम्बन्ध नही रह सकता उसके सदुपयोग में साधक का अधिकार है, विश्वास में नही। इनके विश्वास का साधक के जीवन में कोई उपयोग नही है। जिसका जीवन मे उपयोग नही है वह सर्वथा त्याज्य है। जिसे साधक देखता है, उसकी उसे सेवा करना है। सेवा करने से साधक में उदारता की अभिव्यक्ति होती है। उदारता आते ही दु खियो को देख करुणा और सुखियो को देख प्रसन्नता स्वत होने लगती है। इस दृष्टि से विश्व की सेवा अपेक्षित है, विश्वास नही।

इन्द्रियजन्य तथा बुद्धिजन्य परिवर्तनशील प्रतीति में विश्वास अपना जाना हुआ असत् है। उसका त्याग करते ही साधक में निर्विकारता तथा प्रतीति के प्रकाशक में अविचल श्रद्धा एव विश्वास उदित होता है, जिसके होते ही साधक वड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने विश्वासपात्र से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है।

वस्तु, व्यक्ति आदि का विश्वास तो अनेक आसक्तियो का ही जन्मदाता है, जिनका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नही है। प्रेम के पुजारी को वस्तुओ की आसक्ति का नाश करने के लिए वस्तुओ से असग होना आवश्यक है।

विश्वास का उपयोग एकमात्र सम्बन्ध-स्वीकृति में है। प्रेमास्पद से नित्य-सम्बन्ध विश्वास के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से सम्भव नही है। अतएव साधक को विश्वास का उपयोग प्रेमास्पद से आत्मीयता स्वीकार करने में ही करना उपयुक्त है। प्रियता की जागृति में आत्मीयता के

समान कोई अन्य साधन है ही नही। प्रियता की जागृति श्रमसाध्य नही है। जिसकी जागृति श्रमसाध्य नही है उसके लिए वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि की अपेक्षा नही है। जिसके लिए वस्तु आदि की अपेक्षा नही है उसकी प्राप्ति सभी साधको को सुलभ है। इस दृष्टि से प्रियता की अभिव्यक्ति से निराश होना अपना जाना हुआ असत् है। अपने जाने हुए असत् का सग करना असाधन को जन्म देना है। इस कारण प्रियता की जागृति से निराश होना भूल है। भूल को भूल जानते ही भूल का नाश स्वत हो जाता है।

विश्वासपूर्वक नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करने पर आत्मीयता तभी सुरक्षित रह सकती है, जब प्रेमी प्रेमास्पद से भिन्न किसी अन्य की सत्ता ही स्वीकार न करे और न प्रेमास्पद से कुछ माँगे। प्रियता के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की माँग न रहे। यहाँ तक किस साधक का अस्तित्व ही प्रियता में परिवर्तित हो जाय, यही आत्मीयता की पूर्णता है।

विश्वासी विश्वास में ही विश्वासपात्र हो पाता है। विश्वासपात्र अपने विश्वास के अधीन है। इस दृष्टि से विश्वास विश्वासपात्र से भी कही अधिक महत्त्व की वस्तु है। प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा का आश्रय ही विश्वासी साधको का सर्वस्व है।

विवेक-विरोधी विश्वास का अन्त होने पर जब साधक प्रेमास्पद के विश्वास को स्वीकार करता है, तब उसमें मधुर स्मृति स्वत. जागृत होती है, किन्तु असावधानी के कारण साधक स्मृति का प्रभाव शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि से देखने के लिए लालायित होने लगता है। जो वस्तु अपनी नही है उसको सुन्दर देखने की कामना ही तो ममता है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान नही है। साधक की आत्मीयता तो एकमात्र साध्य ही में है। समस्त ममताओ के नाश में ही आत्मीयता पोषित होती है।

प्रेमास्पद की आत्मीयता के अतिरिक्त यदि कोई और अपनी माँग है तो वह आत्मीयता की सजीवता में बाधक है। प्रियता की अभिव्यक्ति में आत्मीयता से भिन्न कोई अन्य साधन नही है। आत्मीयता में ही समस्त विकास निहित हैं।

४. मूक सत्संग और विश्राम की अभिव्यक्ति

जो अविनाशी है वही सत् है। उसका सग ही सत् का सग है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक सर्वदा सत् का सग करने में स्वाधीन है। सत् के सग में ही सत् की महिमा, सत् का प्रभाव और सत् की प्रियता निहित है।

अविनाशी से देश-काल की दूरी सम्भव नहीं है। जिसमें देश-काल की दूरी नही है, उसकी अभेदता श्रमसाध्य नहीं है। समस्त श्रम काम से उत्पन्न होते हैं। श्रम का अन्त करने के लिए प्रत्येक साधक को निज विवेक के प्रकाश में काम का अन्त करना होगा। आवश्यक कार्य, जो वास्तव में वर्तमान कार्य है, उसे काम का अन्त करने की दृष्टि से करना परम आवश्यक है, किन्तु उसके फल मे लेशमात्र भी आस्था न रहे और करने का राग भी पोपित न हो। तभी कार्य के अन्त में साधक को मगलमय विधान से अल्पकाल विश्राम मिलेगा। कभी-कभी असावधानी से साधक विवेक-विरोधी कर्म कर बैठता है, जिसके करने से करने का राग नाश नही होता। इस दृष्टि से विवेक-विरोधी कार्य का त्याग भी अत्यन्त आवश्यक है। विवेक-विरोधी कार्य का त्याग करने पर आवश्यक कार्य को पूरा करने की सामर्थ्य स्वत प्राप्त होती है। इस दृष्टि से आवश्यक कार्य के अत में विश्राम का सम्पादन परम आवश्यक है।

उत्पन्न हुए सकल्प-विकल्पो से तादात्म्य ही विश्राम को भग करने में मुख्य हेतु है। जब साधक उत्पन्न हुए सकल्प-विकल्पो से विवेकपूर्वक तादात्म्य तोड़ देता है, तब वे सकल्प-विकल्प निर्जीव हो जाते हैं।

जब साधक का अपना कोई सकल्प नही रहता तब वह निर्भयता-पूर्वक वर्तमान कार्य को पूरा कर निश्चिन्त हो जाता है। निश्चिन्तता सामर्थ्य की प्रतीक है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होने पर कर्तव्यपरायणता, असगता एव शरणागति स्वत आ जाती है।

जब साधक विवेकपूर्वक वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता से रहित होकर निस्सकल्पता को स्वीकार करता है तब भी उसे संकल्प-विकल्पो का प्रवाह उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। यह प्रवाह भुक्ताभुक्त इच्छाओ

का परिणाम है, और कुछ नही। साधक को इस प्रवाह से न तो भयभीत होना है और न सुख लेना है, अपितु उससे असहयोग करना है। असहयोग करते ही वह प्रवाह स्वत नष्ट हो जायगा।

शान्ति सजगता तथा सामर्थ्य को सुरक्षित रखती है। सजगता तथा सामर्थ्य से ही प्रत्येक कार्य सागोपांग सम्पन्न होता है। इस दृष्टि से साधक को कार्य के आदि और अन्त में शान्ति सुरक्षित रखना है। यह तभी सम्भव होगा, जब कार्य की फलासक्ति तथा उसके करने का राग साधक में न हो। कार्य करने की सार्थकता और करने के राग की निवृत्ति दूसरो के अधिकार सुरक्षित रखने में है। मगलमय विधान की दृष्टि से साधक को अपने लिए किसी भी कार्य की अपेक्षा नही है। प्रत्येक कार्य का सम्बन्ध विश्व की सेवा में निहित है। समस्त कार्यों का सम्पादन समष्टि शक्तियो के आश्रित है। साधक को तो केवल पवित्र भाव से प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। जब कार्य के आदि और अन्त में स्वभाव से ही शान्ति का सम्पादन होने लगे, तब साधक बड़ी ही सुगमता-पूर्वक चिर-विश्राम से अभिन्न हो जाता है। चिर-विश्राम में समस्त विकास निहित हैं।

चिर-विश्राम साधक को सत् से अभिन्न और असत् से असग कर देता है। सत् से अभेद होने पर कुछ भी करना शेष नही रहता। असत् से अलग होते ही समस्त विकार स्वत नष्ट हो जाते हैं। इस दृष्टि से विश्रामपूर्वक सत् का सग अर्थात् मूक सत्-सग समस्त साधनो की भूमि है और समस्त साधन विश्राम में ही विलीन होते हैं।

अविनाशी का सग किसी श्रम से साध्य नही है। इस कारण मूक सत्-संग ही सर्वोत्कृष्ट सत्-संग है। पर यह रहस्य वे ही साधक जानते हैं, जिन्होंने सत् के सग को वर्तमान जीवन की वस्तु स्वीकार किया है।

असत् के सग का प्रभाव प्रकट हुए बिना नाश नही होता। श्रम-साध्य साधन उस प्रभाव को दबाता है, प्रकट नही होने देता। मूक सत्-संग उस प्रभाव को प्रकट करता है। यदि साधक सावधानीपूर्वक उत्पन्न हुए प्रभाव से सहयोग न करे तो वह अपने-आप मिट जाता है। इस दृष्टि

से मूक सत्-सग के विना निर्विकारता सम्भव नही है और उसके विना चिर-विश्राम, स्वाधीनता एवं प्रेम की अभिव्यक्ति सर्वदा असम्भव है। मूक सत्-सग सहज तथा स्वाभाविक सत्-सग है। उसके लिए किसी प्रकार के प्रयत्न की अपेक्षा नही है, अपितु अप्रयत्न ही वास्तविक प्रयत्न है।

श्रम की सार्थकता वर्तमान कार्य को विधिवत् करने में है। किन्तु वह कार्य साधक का अपना कार्य नहीं है, अपितु विश्व की सेवा है। सही काम करने से अपने-आप सुन्दर समाज का निर्माण होता है और साधक काम-रहित हो जाता है, जिसके होते ही वास्तविक जीवन की माँग सवल तथा स्थायी हो जाती है। जव एक ही माँग स्थायी हो जाती है, तव उस माँग की पूर्ति अपने-आप होती है। जव साधक में अकर्तव्य की उत्पत्ति नही होती और कर्तव्य का अभिमान नही रहता, तव अप्रयत्न ही प्रयत्न रह जाता है, जो वास्तव में मूक सत्-सग है।

सव कुछ करने का अत 'न करने में' ही होता है। कुछ न करने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नही है, अपितु जो 'है' उससे सग करने का उपाय 'कुछ न करना' है। जिससे विभाजन हो ही नही सकता, दूरी हो ही नही सकती, उससे अभिन्न होने में कुछ न करना ही हेतु है। वस, यही मूक सत्-सग है। मूक सत्-सग के विना सत् का सग सभव नही है। असत् के त्याग की पूर्णता मूक सत्-सग में निहित है।

जिसे अपने लिए कुछ भी करना शेष नही, वही वास्तव में कर्तव्य-निष्ठ हो सकता है। जव तक साधक को अपने लिए कुछ करना है, तव तक सर्वांश में कर्तव्य-परायणता नहीं आती। अपने लिए कुछ करना ही नहीं है, यह तभी सभव होता है, जव मूक सत्-सग के द्वारा साधक अपनी पूर्ति पाता है। इस दृष्टि से मूक सत्-सग से कर्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति होती है और विधिवत् कर्तव्य-पालन करने पर कुछ भी करना शेष नही रहता, तव भी अत में मूक सत्-सग ही रह जाता है।

भौतिकवाद की दृष्टि से कर्तव्य-परायणता, अध्यात्मवाद की दृष्टि

से असगता और आस्तिकवाद की दृष्टि से शरणागति ही अन्तिम प्रयास है। इन तीनो प्रयासो की पूर्णता मूक सत्-सग में निहित है।

मूक सत्-सग सिद्ध होते ही करना 'होने में' और 'होना है' में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही अमरत्व से अभिन्नता होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक को मूक सत्-सग परम आवश्यक है। प्रत्येक कार्य के आदि और अत में मूक सत्-सग हो सकता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार जो आदि और अत में है, वही अखण्ड है। अतएव मूक सत्-सग अखण्ड है। जो अखण्ड है, वही अविनाशी है और उसीमें जीवन है।

मूक सत्-सग कोई अभ्यास नही, अपितु सहज स्वभाव से ही सत् से अभिन्न होना है। श्रम तथा अभ्यास की अपेक्षा वास्तव में सत्-सग के लिए नही है।

आवश्यक शक्तियो का प्रादुर्भाव मूक सत्-सग से स्वत होता है। इस दृष्टि से समस्त असमर्थताओ का अन्त मूक सत्-सग में निहित है। असमर्थता का अत होते ही जो नही करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही नही होती और जो करना चाहिए वह मगलमय विधान से स्वत हो जाता है।

अनन्त का अनुपम आश्रय, अपने में अपनी प्रियता, असत् से विमुखता और सर्वात्म-भाव मूक सत्-सग से ही संभव है।

सकल्पजनित समस्त चेष्टाओ का अन्त कर स्वभाव से ही भीतर-बाहर से शान्त होना ही मूक सत्-संग है। अप्राप्त की कामना, मिले हुए का दुरुपयोग और नित्य-प्राप्त मे आस्था एव प्रियता का न होना मूक सत्-संग में बाधक है। जिस प्रकार भूमि प्रत्येक बीज को विकसित करने मे समर्थ है, उसी प्रकार मूक सत्-संग सभी साधको के विकास में समर्थ है।

जिस प्रवृत्ति का आरम्भ शान्ति से नही होता, वह प्रवृत्ति सागोपाग सम्पन्न नही होती और जिस निवृत्ति का अन्त शान्ति में नहीं होता वह निवृत्ति सजीव नहीं होती। प्रवृत्ति और निवृत्ति ही साधक के जीवन के

दो पहलू हैं। निवृत्ति से प्रवृत्ति की सामर्थ्य आती है और प्रवृत्ति से मिली हुई सामर्थ्य का सद्व्यय होता है। मिली हुई सामर्थ्य के सद्व्यय से ही जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है और अभिमानरहित निवृत्ति से ही जीवन अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है। मगलमय विधान के अनुसार प्रवृत्ति जगत् के लिए, निवृत्ति अपने लिए है। अतएव प्रवृत्ति और निवृत्ति को साधनरूप सिद्ध करने के लिए मूक सत्-सग अपेक्षित है। मूक सत्-सग साधक को सुख की दासता और दु ख के भय से रहित कर देता है, जिसके होते ही अह अपने-आप गल जाता है।

सत्-सग की महिमा असाधन के नाश और साधन की अभिव्यक्ति में है। इस दृष्टि से सत्-सग सभी साधको के लिए अनिवार्य है। मूक सत्-सग के द्वारा असाधनो का नाश हो सकता है और योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य के अनुरूप व्यक्तिगत साधन की अभिव्यक्ति भी हो सकती है। अतएव मूक सत्-सग सभी साधको का अपना स्वधर्म है, कारण कि मूक सत्-सग की सिद्धि 'पर' की अपेक्षा नही रखती। अत साधक चाहे जिस परिस्थिति में हो, मूक सत्-संग स्वाधीनतापूर्वक हो सकता है।

मूक सत्-सग अभ्यास नही है, अपितु जीवन का सहज, स्वाभाविक एव अविभाज्य अग है। उसका कोई भी साधक त्याग नही कर सकता, किन्तु उसे सत्-सग का रूप कोई विरले ही दे पाते हैं।

सत्-सग साधक के जीवन का वह महत्त्वपूर्ण अनिवार्य अंग है, जिसका किसी भी हेतु से त्याग नही किया जा सकता। समस्त प्रवृत्तियो के आदि और अत में सत्-सग अत्यन्त आवश्यक है। साधको को यह भलीभाँति ज्ञात रहे कि मूक सत्-सग अभ्यास का रूप न बन जाय, श्रम की गन्ध भी न आने पाये। विश्राम की प्रियता से ही कार्य के अन्त में मूक सत्-सग स्वत होने लगे और जिस माँग की पूर्ति के लिए मूक सत्-सग किया गया है, उसीकी पूर्ति अभीष्ट हो। असमर्थता, पराधीनता एव आसक्तियो के नाश तथा सामर्थ्य, स्वाधीनता और प्रेम की माँग की पूर्ति में ही मूक सत्-संग की अपेक्षा है। इस दृष्टि से मूक सत्-सग सभी के लिए सफलता की कुजी है।

दुःख का प्रभाव : ३ :

प्राकृतिक नियमानुसार जो न चाहने पर भी प्रत्येक प्राणी के जीवन में आ ही जाता है, वही दुःख है और जो चाहते हुए भी नही रहता, वही सुख है। ऐसे दुःख-सुख को वलपूर्वक रोकना अथवा वनाये रखना किसी भी प्राणी के लिए सम्भव नही है। जिसका रोकना सभव नहीं है, उसका आदरपूर्वक स्वागत करना अनिवार्य है और जिसके सुरक्षित रखने में सभी असमर्थ हैं, उसमें जीवन-वुद्धि स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है।

प्राकृतिक नियमानुसार सर्वांश में कोई भी परिस्थिति सुखमय तथा दुःखमय नही होती, अर्थात् उत्पन्न हुई प्रत्येक परिस्थिति आंशिक सुख तथा दुःख से युक्त है। आंशिक दुःख जव आंशिक सुख के प्रलोभन को सुख-काल में ही नष्ट कर देता है, तव उसे दुःख का प्रभाव समझना चाहिए। दुःख के रहते हुए और यह जानते हुए कि आया हुआ आंशिक सुख किसी भी प्रकार नही रहेगा, सुख-भोग की रुचि तथा उसकी आशा रखना दुःख का भोग है। सुख-काल में भी सुख का त्याग पुरुषार्थ से साध्य है, किन्तु दुःख के प्रभाव के विना सर्वांश में दुःख का नाश किसी भी प्रकार साध्य नही है। दुःख का प्रभाव सजगता और दुःख का भोग जडता प्रदान करता है। सजगता असावधानी को नष्ट करती है, क्योंकि वह चिन्मय जीवन की ओर अग्रसर करती है। जड़ता चिन्मय जीवन से विमुख कर मानव को सुख के प्रलोभन, दासता और आशा में आवद्ध करती है। जड़ता से चेतना की ओर अग्रसर होने के लिए दुःख के भोग का अन्त कर उसके प्रभाव को अपनाना अनिवार्य है।

अपने-आप जानेवाला जो सुख है, उसके न रहने का अनुभव यदि सुख-काल में ही कर लिया जाय तो वहुत ही सुगमतापूर्वक दुःख के भोग का नाश और दुःख के प्रभाव की अभिव्यक्ति हो सकती है। सुख-काल

में सुख के जाने की विस्मृति ने ही दु ख का आवाहन किया है। इस कारण सुख का भोग करते हुए कोई भी प्राणी किसी भी प्रकार से दु ख से वच ही नही सकता, सुख के आदि और अन्त में दु ख स्वभाव से उस समय तक रहता ही है, जव तक सुख में अथवा उसके भोग में आस्था है। आस्था प्राणी को उसके अस्तित्व का भास कराती है, जिसमें वह आस्था करता है। इस दृष्टि से जव तक सुख में आस्था रहेगी, तव तक सुख का अस्तित्व प्रतीत होगा। सुख की स्थिरता का भास सुख में जीवन-वुद्धि उत्पन्न करता है, जिसके उत्पन्न होते ही सुख का महत्त्व वढ जाता है, सुख की आशा सुख से भी अधिक मधुर प्रतीत होती है। उस मधुरिमा में आवद्ध प्राणी सुख-भोग के लिए वडे-वडे दु खो को सहन करता है। उस पर भी सुख का भोग तथा उसकी आशा परिणाम में दु ख ही प्रदान करती हैं। इस दृष्टि से सुख में ही दु ख विद्यमान है और दु ख से ही सुख का भास होता है। सुख और दु ख दोनो की वास्तविकता के वोध में सुख की दासता तथा दु ख के भय का नाश है।

सुख सकल्प-पूर्ति की एक दशामात्र है, और कुछ नही। सकल्प शुद्ध हो अथवा अशुद्ध, लघु हो अथवा महान्, किन्तु सकल्प-पूर्ति का सुख समान ही है। यदि सकल्प-पूर्ति के अतिरिक्त सुख का कोई और अस्तित्व होता तो शुभाशुभ प्रवृत्तियो का विभाजन स्वत हो जाता। परन्तु वेचारा सुख का भोगी सर्वांश में न तो अशुभ प्रवृत्तियो का नाश ही कर पाता है और न शुभ प्रवृत्तियो की दासता से ही मुक्त हो पाता है। प्रवृत्ति रहते हुए रस के साम्राज्य में प्रवेश ही नही होता। सुख का भास वास्तव में परिस्थितिजन्य नही है, केवल सकल्प-पूर्तिजन्य है। प्राणी प्रमादवश आये हुए दुःख से भयभीत और जानेवाले सुख की दासता में आवद्ध होकर नित-नवरस से, जो जीवन की वास्तविक माँग है, वचित रह जाता है, यद्यपि रस की माँग नष्ट नहीं होती, दव जाती है और फिर नीरसता मानव को सुख का भिखारी वना देती है।

सुख के सम्पादन के लिए श्रम, सग्रह, पराधीनता एव जडता आदि दोष अपेक्षित हैं, किन्तु अगाध, अनन्त, नित-नवरस के प्रादुर्भाव के लिए

केवल विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम की जाग्रति अपेक्षित है। दु ख का प्रभाव अत्यन्त सुगमतापूर्वक मानव को विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम का अधिकारी बना देता है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने आये हुए दु ख का आदरपूर्वक स्वागत किया है और गये हुए सुख को धीरजपूर्वक विदाई दी है। सुख का आना और जाना तभी उपयोगी तथा हितकर सिद्ध होते हैं, जब मानव सुख का भोगी न होकर उसकी वास्तविकता का अनुभव कर, आये हुए सुख द्वारा सेवापरायण हो जाय। सुख-दु खयुक्त परिस्थिति में से जब सुखाश सेवा में व्यय हो जाता है, तब मगलमय विधान से केवल दु ख दु खी को उस जीवन से अभिन्न कर देता है, जो सुख-दु ख से अतीत, दिव्य और चिन्मय है, जिसमें जड़ता, पराधीनता तथा अभाव की गन्ध भी नही है और जो अकर्तव्य, असाधन एव आसक्तियो से रहित है।

कामना-पूर्ति और अपूर्ति को परिस्थितियो से तादात्म्य स्वीकार करना अपने को सुख की दासता तथा दु ख के *भय में आवद्ध* करना है। दु ख का भय दु ख से भी अधिक दु खद है। दु ख आने पर यदि वेचारा दु खी दु ख से भयभीत न हो तो सावधानी सुरक्षित रहती है, जिसके रहने से प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य साधक में स्वत आ जाती है। परिस्थितियो का सदुपयोग उनसे असगता प्रदान करने में समर्थ है। असगता विपमता का अत कर समता से अभिन्न करने में हेतु है। समता के साम्राज्य में दीनता तथा अभिमान की गन्ध भी नही है। दीनता तथा अभिमान का अत होते ही परिच्छिन्नता स्वत नष्ट हो जाती है और फिर सुख-दु ख से अतीत के जीवन से एकता हो जाती है। इस दृष्टि से असगतापूर्वक समता से अभिन्न होना अनिवार्य है।

प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य और योग्यता के अभिमान का अन्त हुए विना विकास सभव नही है। दु ख का प्रभाव निरभिमानता का प्रतीक है और दु ख का भोग दीनता में आवद्ध करता है। इस दृष्टि से आये हुए दु ख का भोगी नही होना है, अपितु उसके प्रभाव को अपनाना है।

दु ख का भोगी सुखमय परिस्थिति की उपलब्धि मात्र से अपने में

झूठा सतोप कर लेता है, दु ख के भोगी में बीजरूप से सुख की दासता रहती है। सीमित बल, योग्यता एव गुणो की महत्ता में आबद्ध होने के कारण वास्तविकता की विस्मृति उसे दु ख के प्रभाव से प्रभावित नही होने देती। दु ख के भोगी में त्याग का बल नही रहता। दुःख के प्रभाव में ही त्याग का बल निहित है। दु ख के भोगी मे क्रोध है, त्याग नही। कभी-कभी दु ख का भोगी अपने शरीर तक का नाश कर देता है, पर देहाभिमान का त्याग नही कर पाता। इतना ही नही, वह अपने को भयकर परिस्थितियो में डाल देता है, किन्तु प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नही करता।

दु ख का भोग प्राणी को शक्तिहीन बनाता है और दु ख का प्रभाव सामर्थ्य प्रदान करता है। दु ख का प्रभाव अभिमान का अन्त कर दु खी को दीनता से मुक्त कर देता है। दु ख को सहन करना दु ख-भोग का सुन्दर रूप है, किन्तु दु ख के कारण की खोज न करना दु ख-भोग को सुरक्षित रखना है। सहनशीलता असह्य वेदना को शिथिल बनाती है और असहनशीलता क्षुब्ध करती है। क्षुब्ध होने से भी सर्वांश में दु ख का प्रभाव नही होता, अपितु दु ख का भोग ही होने लगता है। इस कारण सहनशीलता और असहनशीलता दोनो से भिन्न दु ख के प्रभाव को अपनाना अनिवार्य है। वह तभी सभव होगा, जब दु ख का भोगी अपने में छिपी हुई सुख की दासता का स्पष्ट दर्शन करे। सुख की दासता ही दु खी को दु ख-भोग के लिए जीवित रखती है। उसका नाश होते ही दु खी दु ख के प्रभाव से प्रभावित होकर सदा के लिए दु ख से छूट जाता है।

सुख का भोग सुखी की चेतना का अपहरण कर लेता है तथा अपने-आप आनेवाला दु ख पुन चेतना प्रदान कर सुख के भोगी को सजग कर देता है। इस दृष्टि से दु ख बडे ही महत्त्व की वस्तु है। मगलमय विधान से दु ख जीवन की वास्तविक माँग की जिज्ञासा जाग्रत करने के लिए ही आता है। जिज्ञासा की जाग्रति सुख-भोग की रुचि का नाश करती है, जिसके होते ही आये हुए दु ख का प्रभाव स्वत हो जाता है

और फिर दु खी बहुत ही सुगमतापूर्वक दु:ख से रहित हो वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है।

तीव्र दु ख का होना दु खी के लिए अहितकर नहीं है, अपितु सर्वदा हितकर ही है। दु ख आने पर हार स्वीकार करना भी दु खी के विकास मे बाधक है। दु ख दु खी की सोयी हुई सामर्थ्य को जगाता है और जडता का अपहरण कर सजगता प्रदान करता है। इतना ही नही, वह मिली हुई सामर्थ्य के अभिमान का नाश कर उसके सदुपयोग में प्रवृत्त करता है। सामर्थ्य का सद्व्यय आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति में हेतु है। इस दृष्टि से दु ख का प्रभाव असमर्थता का अन्त कर साधक को अकर्तव्य, असाधन और आसक्तियो से मुक्त कर देता है, जिससे उसका सर्वतोमुखी विकास स्वत हो जाता है।

दु ख में सुख की प्राप्ति का प्रयास और सुख के अस्तित्व को स्वीकार कर उसमें जीवन-बुद्धि रखना अपने को आये हुए दु ख के प्रभाव से विमुख करना है, जो विनाश का मूल है। साधक के पुरुपार्थ की पूर्णता दु ख के प्रभाव में ही है। जब तक दु ख का प्रभाव नही होता, तब तक सर्वतोमुखी विकास सभव नही है। आयी हुई अनुकूलता नही रहेगी। उसका उपयोग परसेवा में करना दु ख के प्रभाव को जीवित रखता है, किन्तु अनुकूलता अपने लिए है—यह प्रमाद दु ख का प्रभाव नहीं।

दु ख का प्रादुर्भाव प्राकृतिक है, कारण कि न चाहते हुए भी वह सभी प्राणियो को मिलता है। जिसका प्रादुर्भाव प्राकृतिक है, वह किसीके लिए अहितकर नही है, अपितु हितकर ही है, किन्तु सुख की दासता दु ख के महत्त्व से अनभिज्ञ रखती है। चाहते हुए भी सुख तो चला ही जाता है, पर उसकी दासता शेष रहती है, जिसके रहते हुए दु ख अपने-आप आता ही है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि दु ख मगलमय विधान से सुख की दासता का नाश करने के लिए आता है। दु ख के भय से तो सुख की दासता ही पोषित होती है, पर दु ख के प्रभाव से सुख की दासता सदा के लिए मिट जाती है।

सदा परिस्थितियाँ सुख और दु ख से युक्त हैं। यदि परिस्थितियो

के निर्माण में प्राणियो को स्वाधीनता होती तो प्राणी दु खरहित परिस्थिति का निर्माण करता, कारण कि दु ख किसीको भी अभीष्ट नही है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में प्राणियो को स्वाधीनता है, निर्माण में नही। परिस्थितियाँ तो मगलमय विधान से ही निर्मित हैं। सुख प्राणियो को परिच्छिन्नता में आबद्ध करता है और दु ख परिच्छिन्नता से रहित होने के लिए प्रेरित करता है। सुखी वर्तमान वस्तुस्थिति में बँध जाता है और दु खी उससे मुक्त होने के लिए व्याकुल हो जाता है। इस दृष्टि से सुख बन्धन का और दु ख मुक्ति का हेतु है।

दु ख का प्रभाव दु खी को दु ख के मिटाने में तत्पर कर देता है। दु ख का प्रभाव अधिकतर स्वभाव से उन्ही प्राणियो पर होता है, जो पराधीनता, असमर्थता एव नीरसता सहन नही कर पाते, दु ख का प्रभाव दुःखी की न्यूनाधिक श्रेणियो के आश्रित नही होता, अपितु दु खी की सजगता तथा सावधानी ही दु ख के प्रभाव में हेतु है। जब दु खी जीवन-सग्राम में हार स्वीकार नही करता, अपने लक्ष्य से निराश नही होता तथा विकास में अविचल आस्था रखता है और परिस्थितियो से अपना मूल्य अधिक जानता है, तब वह दु ख के प्रभाव से प्रभावित होता है।

दु ख दो भागो में विभक्त होता है 'निर्जीव दु ख' और 'सजीव दु ख'। निर्जीव दु ख में दु खी सुख की आशा में दु ख भोगता रहता है और सजीव दु ख में दु खी सुख की आशा से रहित दु खनिवृत्ति की आवश्यकता अनुभव करता है। इतना ही नही, वह एक ऐसे जीवन की खोज करता है, जिसमें दुःख-निवृत्ति के साथ-साथ स्वाधीनता और अगाध, अनन्त, नित नव रस की अभिव्यक्ति है। जब साधक निज विवेक के प्रकाश में उत्पन्न हुई परिस्थितियो को देखता है तब उसे सुख-दु खयुक्त परिस्थितियो मे एकमात्र दु ख का ही दर्शन होता है सुख में दु ख का दर्शन होते ही दु ख की पूर्णता हो जाती है, जिसके होते ही स्वत दु ख का प्रभाव हो जाता है और फिर अपने-आप दु ख-निवृत्ति तथा माँग की पूर्ति हो जाती है। इस दृष्टि से दु ख की पूर्णता में ही दु ख का प्रभाव निहित है।

प्राकृतिक दुःख से दुःखी प्राणियो के प्रति तो विश्व की ओर से करुणा की धारा बहती ही है। उनको आवश्यक आदर, प्यार तथा सहयोग मिलता ही है और उनका स्वाभिमान भी सुरक्षित रहता ही है। यदि उनमें सुख की आशा न रहे तो वे अत्यत सुगमतापूर्वक दुःख के प्रभाव से प्रभावित हो सत्पथ पर अग्रसर हो जाते हैं। परन्तु भूल-जनित दुःखियो को देख, कोई विरले ही महापुरुष ऐसे होते हैं, जो उन्हे आदर तथा प्यार एव आवश्यक सहयोग देकर अधीर नही होने देते और उनमें आत्म-विश्वास जाग्रत करते हैं, जिससे वे भी अपनी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार साधन-पथ में प्रवृत्त हो जाते हैं। पराये दुःख से दुःखी होने के समान और कोई उत्कृष्ट सेवा नही है। पर यह सेवा वे ही साधक कर सकते हैं, जो वर्तमान निर्दोषता के आधार पर किसीको बुरा नही समझते, किसीका बुरा नही चाहते और न किसीके प्रति बुराई करते हैं। भूल-जनित दुःखियो को अपनाने की सामर्थ्य उन्ही सजग साधको में होती है, जो अपनी भूल देखने में और उसको न दोहराने में सर्वदा तत्पर हैं।

जो साधक सार्वजनिक दुःख से पीडित हैं, वे अत्यन्त सुगमतापूर्वक आये हुए सुख का सदुपयोग करने में समर्थ होते हैं। व्यक्तिगत दुःख से दुःखी में भी जाग्रति आती है। प्राणीमात्र के दुःख से दुःखी होने पर तो साधक के जीवन में अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्य की अभिव्यक्ति होती है—ऐश्वर्य तो इस प्रकार का कि उसे अपने लिए जगत् की अपेक्षा नहीं रहती और माधुर्य इस प्रकार का कि वह सभी को अपना लेता है। उसके जीवन में भिन्नता की गन्ध भी नही रहती और न काम, क्रोध आदि विकारो की ही उत्पत्ति होती है। व्यक्तिगत दुःख से दुःखी प्राणी प्रथम त्याग को अपनाता है और फिर त्याग से प्राप्त सामर्थ्य द्वारा सेवा मे प्रवृत्त होता है। सार्वजनिक दुःख से दुःखी प्राणी प्रथम सेवा को अपनाता है। सेवा की पूर्णता त्याग में विलीन होती है, भोग में नही। इस दृष्टि से सेवा त्याग में और त्याग सेवा में विलीन होता है।

दुःख के प्रभाव से प्रभावित साधक जब त्याग और सेवा को अपनाता है, तब उसके जीवन मे शान्ति, सामर्थ्य एव स्वाधीनता की अभिव्यक्ति

स्वत होती है। जो साधक शान्ति में रमण नही करता, सामर्थ्य का दुरुपयोग नही करता और स्वाधीनता में सन्तुष्ट नही होता, उसका अनन्त के मंगलमय विधान से प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार दु ख का प्रभाव ही सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। दु खियो के दु ख की निवृत्ति तथा जिज्ञासुओ को तत्त्वज्ञान से एव प्रेमियो को प्रेमास्पद से अभिन्न करने में दु ख का प्रभाव ही हेतु है। इतना ही नहीं, प्रत्येक आविष्कार के मूल में दु ख की ही प्रधानता है। विज्ञान-वेत्ताओ का विज्ञान, साहित्यिको का साहित्य एव दार्शनिको का दर्शन दु ख के प्रभाव से ही उद्भूत हो पोषित होता है। यदि जीवन मे दु ख का प्रादुर्भाव न हुआ होता तो प्राणियो में सजगता उदित ही न होती, जिसके बिना किसी प्रकार का भी विकास सम्भव न होता। सजगता से ही दर्शन की अभिव्यक्ति, साहित्य का सृजन और विज्ञान का आविष्कार होता है। सजगता विकसित जीवन का अनिवार्य अंग है। सजग साधको से ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है और व्यक्ति के कल्याण में भी सजगता ही मुख्य हेतु है।

दु ख से भयभीत प्राणियो में ही हिंसात्मक वृत्तियो की उत्पत्ति होती है। यदि साधक दु ख के सदुपयोग द्वारा दु ख के भय तथा भोग से रहित हो जाय तो उसके जीवन में अहिंसा की अभिव्यक्ति स्वत. होती है। हिंसा व्यक्ति का अपना उत्पन्न किया हुआ दोष है और अहिंसा का प्रादुर्भाव मगलमय विधान से होता है। दु ख से भयभीत प्राणी ही लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि विकारो में आबद्ध हो जाता है। दु ख के भय से ही सुख का प्रलोभन और अधिकार के अपहृत होने के भय से ही अधिकार-लालसा पोषित होती है।

दु ख का भय दु.ख से भी अधिक भयंकर है।

दु ख का भय तथा दु ख को दवाना दु ख-निवृत्ति में सहायक नही है, अपितु बाधक है। दु ख के भय से भयभीत बेचारा दुःखी प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य एव योग्यता का सदुपयोग नही कर पाता और दवा हुआ दु ख कालान्तर में कई गुना अधिक होकर प्रकट होता है। इस कारण एक-

मात्र दु ख का प्रभाव ही दु'खी को दु ख-रहित करने में समर्थ है। अनुकूलता के वियोग से उत्पन्न व्यथा हमें उत्पन्न हुई वस्तुओ से असग होने का पाठ पढाने के लिए मगलमय विधान से मिली थी। पर प्राणी जो 'नही है' उसका चिन्तन और जो 'है' उसकी विस्मृति को अपनाकर वास्तविक जीवन से विमुख हो जाता है।

दु खरहित सुख एव भयरहित शान्ति की माँग प्राणिमात्र में स्वभाव से है। प्राकृतिक नियमानुसार सुखद अनुभूति के आदि और अन्त में दु ख का भास होता है। यदि दु'ख-रहित सुख का अर्थ सुख-दु ख से अतीत का जीवन स्वीकार कर लिया जाय, तव तो यह माँग पूरी हो सकती है, किन्तु कामना-पूर्तिजनित सुखद अनुभूति को ही सुख के अर्थ में लिया जाय तो दु खरहित सुख की कल्पना भ्रममूलक है, कारण कि जव सुख का भास दु ख से ही होता है, तव परिणाम में दु ख ही रहेगा। दु ख का प्रभाव ही कामनाओ का नाश करने में और उत्कट लालसा जगाने में हेतु है।

यद्यपि सुख और शान्ति सवको स्वभाव से ही प्रिय है, सुख-सामग्री के आश्रित शान्ति भयरहित नही है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि से सम्पादित वल के द्वारा अपनी शान्ति को सुरक्षित रखने का प्रयास भ्रममूलक है, कारण कि वल का उपयोग समान वल पर अथवा अधिक वल पर नही हो सकता, अपितु निर्वलो के प्रति ही होता है। वल के दुरुपयोग से कालान्तर में सवल स्वय निर्वल हो जाता है। इतना ही नहीं, उसकी विरोधी सत्ता की उत्पत्ति भी हो जाती है और वही दुर्दिन उसे स्वय देखने पड़ते है, जो उसने वल के दुरुपयोग के द्वारा निर्वलो को दिखाये थे। वल के सदुपयोग से परस्पर एकता होती है और फिर सवल तथा निर्वल का भेद शेप नही रहता। पर वल का सदुपयोग तभी मभव है, जव सवल निर्वलो के दु ख से दु खी हो करुणित हो जाय और दु खी सुखियो को देख प्रसन्न हो जाय। दु खियो को देख करुणित और सुखियो को देख प्रसन्न होना प्रत्येक देश, वर्ग, समाज एव व्यक्ति के लिए अनिवार्य है और यही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। सेवा की

सजीवता तथा पूर्णता त्याग में निहित है। सेवा और त्याग को सजीव बनाने मे एकमात्र प्रेम ही मूल तत्त्व है।

सारांश

दुःख का भय तथा भोग प्राणियो को सुख की दासता में आबद्ध कर जडता एव पराधीनता से युक्त कर देता है। परन्तु दुःख का प्रभाव व्यक्ति को सजगता प्रदान करता है, जिससे साधक को जडता तथा पराधीनता असह्य हो जाती है।

सजगता एक अलौकिक प्रकाश है, जो असावधानीरूपी अधकार के नष्ट करने में समर्थ है। सजगता किसी कर्म का फल नही है, अपितु अनत की अनुपम देन है। सजगता का प्रभाव सर्वांश में और असावधानी आशिक होती है। सजगता आते ही आशिक असावधानी सदा के लिए नष्ट हो जाती है और फिर आशिक गुणो के अभिमान की उत्पत्ति नहीं होती। दुःख का प्रभाव दोषजनित वेदना जाग्रत कर सजगता प्रदान करता है। अत दुःख के प्रभाव में ही सजगता निहित है।

सजगता से प्राप्त उदारता साधक को हृदयशील बना देती है। हृदयशीलता की अभिव्यक्ति होते ही साधक किसीको न तो बुरा ही समझता है और न किसीका बुरा ही चाहता है और न उसमें बुराई करने की सामर्थ्य ही रहती है। उदारता को सुरक्षित बनाये रखने के लिए — वर्तमान सभी का निर्दोष है, इस महामन्त्र को अपना लेना अनिवार्य है। उदारता से उदित निष्कामता में ही असगता निहित है।

प्रसन्न होने के लिए किसी अभ्यासविशेष की अपेक्षा नहीं है, प्रत्युत सहज निष्कामता अनिवार्य है। निष्कामता आते ही स्वत असंगता आती है, कारण कि काम ही सग में हेतु है। असगता के बिना निर्वासना नही आती। दुःख का प्रभाव भूलजनित सुख के प्रलोभन को खाकर सजगता, उदारता, निष्कामता एव असंगता प्रदान करने में समर्थ है। उदारता जगत् के लिए उपयोगी होती है और निष्कामतापूर्वक असंगता अपने लिए उपयोगी होती है।

उदारता की पूर्णता में असगता और असगता की सिद्धि में उदारता ओतप्रोत है। अपनी-अपनी रुचि, योग्यता एव सामर्थ्य के अनुसार कोई उदारता को अपनाकर असग हो जाता है और कोई असंग होकर उदार होता है। हृदयशील साधक उदारता अपनाकर असग होते हैं और विचार-शील साधक असग होकर उदार होते हैं। भाव-शक्ति की सवलता से हृदयशीलता और विचार-शक्ति की प्रवलता से निष्कामता आती है, जो असगता में हेतु है।

जिस अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानवमात्र को भाव-शक्ति, विवेक-शक्ति तथा सामर्थ्य मिली है, उसके लिए जीवन उपयोगी तभी हो सकता है, जब साधक उदारता तथा असंगता से प्राप्त शक्ति में रमण नही करता एव स्वाधीनता में सतुष्ट नही होता।

सामर्थ्य और अमरत्व को पाकर सन्तुष्ट हो जाना अपने को अगाध-प्रियता से विमुख रखना है। इस कारण विश्राम और स्वाधीनता एकमात्र अगाधप्रियता की जागृति में साधनरूप है। साधन में साध्य-बुद्धि साधन का मोह है। साधक का वास्तविक स्वरूप परम शान्ति, अखण्ड स्मृति एव अगाधप्रियता है। जो साधक का स्वरूप है, वही साध्य का स्वभाव है। साधक साध्य के स्वभाव से अभिन्न होकर कृतकृत्य होता है। इस दृष्टि से दु ख के प्रभाव में ही जीवन की पूर्णता निहित है। ●

चित्त की शुद्धि : ४ :

(१)

चित्त में अस्वाभाविकता का आ जाना अशुद्धि है। सकल्प की उत्पत्ति व उसकी पूर्ति की द्वद्वात्मक परिस्थिति को ही जीवन मान लेना अस्वाभा-विकता है। इसके प्रभाव से ही चित्त अशुद्ध हो जाता है। सकल्प-पूर्ति के सुख की दासता और संकल्प-अपूर्ति का भय मिट जाने पर संकल्प-उत्पत्ति-पूर्ति के जीवन से तद्रूपता नही रहती है। तद्रूपता के मिटते

ही चित्त स्वत शुद्ध होने लगता है। प्रश्न होता है कि सकल्प क्या है ? वस्तुओ की सत्यता, सुन्दरता एव सुखरूपता का आकर्षण ही सकल्प का स्वरूप है, अत सकल्प-रहित होने के लिए आवश्यक है कि सभी वस्तुओ से–शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन एव वुद्धि तथा यह सृष्टि—इनसे अपने को विमुख कर लिया जाय। वस्तुओ के द्वारा सुख की आशा ने संकल्प को जन्म दिया है और सकल्प-पूर्ति ने वस्तु को महत्त्व प्रदान किया है।

शरीररूपी वस्तु में अहम्-वुद्धि हो जाने पर वस्तुओ की कामना स्वत. उत्पन्न होती है। शरीर से तद्‌रूप हो जाने पर सृष्टि से सुख की आशा उत्पन्न हो जाती है। यह अविवेक है। अविवेक से ही संकल्प और वस्तु मे सम्वन्ध की स्थापना होती है। विवेकपूर्वक शरीर से तद्‌रूपता मिट जाने पर सकल्प की उत्पत्ति ही नही होती। संकल्पो की निवृत्ति होते ही सुख-दु ख से अतीत शान्ति के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वस्तुओ का सग करने से चित्त अशुद्ध हो गया है, जिसके होने से जीवन पराधीनता, जडता आदि दोषो मे आबद्ध हो गया है। इसी कारण चित्त-शुद्धि का प्रश्न जीवन का प्रश्न है और उसे वर्तमान में ही हल करना है।

(२)

सर्वांश में चित्त कभी अशुद्ध नहीं होता। यदि ऐसा होता तो चित्त की शुद्धि का प्रश्न ही उत्पन्न न होता। अत चित्त में जो अशुद्धि भासती है, वह उसके किसी अशमात्र में है। पहला काम चित्त की अशुद्धि के कारण की खोज है। यह खोज चित्त-शुद्धि की उत्कट लालसा से होगी, अत इसे सवल और स्थायी वनाना चाहिए।

जिस ज्ञान से चित्त की अशुद्धि का कारण विदित होता है, वह नित्य है, स्वाभाविक है, भौतिक दृष्टि से प्राकृतिक विकास है, आध्यात्मिक दृष्टि से अपने ही स्वरूप की महिमा है और आस्तिक दृष्टि से अनन्त की अहैतुकी कृपा-शक्ति है। हमें उस ज्ञान का आदर करना चाहिए। उससे अत्यन्त आत्मीयता हो, उसका कभी भी विरोध न हो तो वडी सुगमता-पूर्वक चित्त-शुद्धि की साधना में सफलता प्राप्त हो जाती है।

अनावश्यक तथा अशुद्ध संकल्पो के त्याग से चित्त-शुद्धि की साधना आरम्भ होती है। इसका उपाय यह है कि आवश्यक सकल्पो को परिस्थिति के अनुसार, पवित्र भाव से, लक्ष्य पर दृष्टि रखकर कर्तव्य कर्म पूरा करना चाहिए। आवश्यक सकल्प वही है—(क) जिसका पूरा करने की सामर्थ्य प्राप्त हो, (ख) जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो, (ग) जिसको पूरा किये विना हम किसी प्रकार न रह सकें, (घ) जिसके पूरे होने से किसीका अहित न हो। पवित्र तथा आवश्यक सकल्पो की पूर्ति का प्रयत्न आरम्भ करते ही अनावश्यक तथा अशुद्ध सकल्पो का प्रवाह वडे वेग से उठने लगता है। इस दशा में उसे इससे असहयोग करना चाहिए और समझना चाहिए कि भुक्त-अभुक्त इच्छाओ के प्रभाव से दवे हुए सकल्प मिटने के लिए उठ रहे हैं।

चित्त की अशुद्धि का ज्ञान तभी होता है, जव चित्त-शुद्धि की साधना आरम्भ होती है। चित्त की चचलता और मलिनता का वोध चित्त की एकाग्रता और निर्मलता का साधन है, क्योकि जिस ज्ञान से चित्त के विकारो को वोध होता है, उस ज्ञान में चित्त को निर्विकार वनाने का सामर्थ्य विद्यमान है।

अपनी-अपनी धारणा के अनुसार कोई उस ज्ञान को भौतिक विकास मानकर कर्तव्यपरायण होकर अशुद्धि का अन्त कर देता है। कोई उस ज्ञान को निज विवेक का प्रकाश मानकर अविवेकजनित अशुद्धि का अत करने में समर्थ होता है। कोई उस ज्ञान को अनन्त की अहैतुकी कृपा-शक्ति मानता है और उसीका आश्रय लेकर निश्चिन्त हो जाता है।

(३)

गुणो के अभिमान तथा सीमित प्रीति से चित्त अशुद्ध होता है, क्योकि गुणों के अभिमान से व्यक्तित्व का महत्त्व वढता है और सीमित प्रीति से द्वेष की उत्पत्ति होती है, जिससे वैरभाव उत्पन्न हो जाता है, जो समस्त संघर्षों का मूल है। व्यक्तित्व की दासता मनुष्य को अधिकार-लालसा में आवद्ध कर देती है। यदि उसके अधिकार की पूर्ति हो गयी

तो राग में आबद्ध हो जाता है और यदि अधिकार की पूर्ति नही हुई तो क्रोध की अग्नि में जलने लगता है। राग और क्रोध दोनो ही चित्त को अशुद्ध कर देते हैं।

व्यक्तित्व की दासता का अन्त करने के लिए गुणो के अभिमान को गलाना आवश्यक है। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक पर-दोष-दर्शन से विमुख हो निज दोष जानने का प्रयत्न करे। पर-दोष-दर्शन करने-वाली दृष्टि सीमित गुणो को महत्त्व देने से ही उत्पन्न होती है। गुणो का अभिमान रखते हुए कोई भी उन्नति के पथ पर अग्रसर नही हो सकता। साधक को अपने में गुणो का भास तभी होता है, जब उसकी दृष्टि दूसरो की निर्बलता पर जाती है। वास्तविक गुणो का प्रादुर्भाव होने पर उनका भास नही होता।

गुणो के अभिमान के आधार पर ही अहभाव जीवित है। अपने सुख में सुखी होना और उसीके लिए ऊपर-ऊपर से गुणो का लेप चढाना, जिससे व्यक्तित्व की पूजा में क्षति न हो, परन्तु अपनी दृष्टि से अपने को पूजा के योग्य न पाना, फिर भी दूसरों से पूजा की आशा करना—इसी प्रमाद से अहभाव पोषित होता है। यदि साधक अपनी ही दृष्टि मे आदर-योग्य बने रहने के लिए प्रयत्नशील रहे तो अहभाव की दासता और गुणो के अभिमान से रहित हो सकता है। यह तभी सम्भव होगा, जब वह अपने जाने हुए दोषो का त्याग करने में सदा तत्पर रहे।

जिन प्रवृत्तियो से किसीकी क्षति हो, किसीका अनादर हो, किसीका अहित हो, वे सभी दोष हैं। जो किसीका बुरा नही चाहता, उसके सभी दोष मिट जाते हैं। एक ही दोष स्थान-भेद से भिन्न प्रकार का भासता है। ऐसे किसी भी दोष के मिट जाने पर सभी दोष मिट जाते है। अपना दोष ही किसीमें महत्त्व का दर्शन कराता है और अपने अभिमान से ही किसीमें दोष भासता है। अत. जाने हुए दोष को त्याग, गुणो के अभिमान से रहित, अहभाव की दासता से मुक्त होकर चित्त शुद्ध कर लेना चाहिए।

(४)

चित्त की अशुद्धि का एक कारण यह है कि जब हम विवेक के प्रकाश में अपने में कोई दोष पाते हैं तो अपने प्रति वह न्याय नही करते, जो उसी दोष में दूसरो के प्रति करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि वह दोष दृढतापूर्वक चित्त में अकित हो जाता है। दोषजनित सुख के बदले में उससे कही अधिक दु ख का हर्षपूर्वक अपना लेना न्याय का प्रथम अग है। न्याय के इस प्रथम अग का उपयोग हम दूसरो पर तो बडे सहजभाव से करने लगते है, पर अपने प्रति सुख के स्थान पर दु ख के अपनाने में भयभीत होते हैं। इस कारण अपना दोष जान लेने पर भी अपने को क्षमा करने की बात सोचते हैं। ऐसा करने से अपने व्यक्तित्व का मोह दृढ हो जाता है, जो दोषो का मूल है और अनेक अशुद्धियाँ उत्पन्न करता है। अत हमें अपने प्रति न्याय ही करना है।

न्याय का दूसरा अग है किये हुए दोष को न दुहराना। यह अग अपने प्रति तभी सम्भव है, जब न्याय के प्रथम अग को अपना लिया जाय। जब दु ख इतना बढ जाता है कि सुख का राग मिट जाय, तब दोष न दुहराने की दृढता स्वत आ जाती है, जिसके होते ही निर्दोषता दृढ हो जाती है, जो न्याय का तीसरा अग है।

अपने प्रति न्याय का अर्थ अपने पर क्रोधित होना नहीं है, न अपना विनाश करना है और न अपनी क्षति करना है, अपितु न्याय का अर्थ है, असहयोगपूर्वक अपना सुधार। असहयोग से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। सम्बन्ध-विच्छेद से राग-द्वेष नही रहता। रागरहित होने से सुखासक्ति मिटती है और द्वेषरहित होने से क्रोध का नाश हो जाता है। सुखासक्ति मिटने से दोषो की पुनरावृत्ति नही होती और क्रोधरहित होने से हिंसा का भाव मिट जाता है।

पूर्ण न्याय का प्रयोग हमें अपने मन के ही साथ करना है। जैसे-जैसे दूरी बढती जाय, वैसे-वैसे न्याय क्षमा में बदलते जाना चाहिए। क्षमा अपने और विपक्षी के बीच में निर्वैरता की स्थापना करती है, जिसके

होते ही अपनी ओर से बुराई के बदले में भलाई स्वत. होने लगती है और अपने प्रति होनेवाली बुराई की विस्मृति हो जाती है।

जब साधक को अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अशुद्धि का दर्शन हो तब उसे इनके प्रति न्याय करना चाहिए, अर्थात् उनसे विवेक-पूर्वक असहयोग कर लेना चाहिए। ऐसा करते ही वे स्वत शुद्ध हो जायेंगे। कारण कि जिस वस्तु में ममता नहीं रहती, वह अनन्त को समर्पित हो जाती है। जो अनन्त को समर्पित हो जाती है, वह अनन्त की कृपा से स्वत शुद्ध हो जाती है।

(५)

किसी भी की हुई, सुनी हुई, देखी हुई बुराई के आधार पर अपने को अथवा दूसरे को सदा के लिए बुरा मान लेने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। कोई भी व्यक्ति सर्वांश में बुरा नही होता, सभी के लिए बुरा नही होता, सर्वदा बुरा नही होता। बुराई की प्रतीति अपने में हो या दूसरे में हो, आशिक होती है और वह भी सदैव नही रहती। व्यक्ति प्रमादवश भूतकाल की बुराई के आधार पर अपने को वर्तमान में बुरा मान लेता है। यह मान्यता की हुई बुराई की स्मृतिमात्र है, बुराई नही। हमें की हुई बुराई की स्मृति की स्थापना न अपने में करनी चाहिए, न दूसरो में। इसके विपरीत उस प्रकार की बुराई को, जिसकी कि वह स्मृति है, न दुहराने का सकल्प कर लेना चाहिए। तव सभी दोप स्वत मिट जाते हैं, क्योकि किसी भी दोप की स्वतंत्र सत्ता नही है। चित्त-शुद्धि के लिए दोपयुक्त मान्यताओ का त्याग अनिवार्य है।

निर्दोप मान्यताएँ साधनरूप हैं। वे कर्तव्य-परायणता में परिवर्तित होकर मिट जाती हैं और असाधनरूप मान्यताएँ केवल अस्वीकृति से मिट जाती हैं। जिन दोपयुक्त प्रवृत्तियों के आधार पर असाधनरूप मान्यताओ की स्वीकृति हुई थी, वह प्रवृत्तियाँ वर्तमान में नही हैं, फिर भी हम उनका त्याग नहीं करते हैं। मान्यता की खोज करने से उसका अस्तित्व नही मिलता, तव उसकी स्वीकृति स्वत मिट जाती है। पर

मान्यता की खोज वही कर सकता है, जो निज विवेक के प्रकाश में वस्तु, अवस्था आदि के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करे। खोज करने पर शरीर आदि किसी भी वस्तु का स्वतत्र अस्तित्व सिद्ध नही होता। प्रत्येक वस्तु समस्त सृष्टि से अभिन्न है। इस दृष्टि से सृष्टि भी वस्तु है। तब सभी अपने हैं या कोई भी वस्तु अपनी नहीं है। जब सभी अपने हैं तब किसको बुरा समझोगे और जब कोई अपना नही, तब किसीके प्रति कुछ कहना बनता नही। अत अपने और दूसरो के सम्बन्ध में जो मान्यताएँ हैं उनका कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है। अस्तित्वहीन को स्वीकार करना विवेक का विरोध है। विवेक के अनादर से ही चित्त अशुद्ध हुआ है। चित्त की शुद्धि अपने में और दूसरो में निर्दोषता की स्थापना करने मे ही निहित है।

(६)

प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही अपूर्ण तथा अभावयुक्त है। वह उत्पत्ति-विनाशयुक्त है। उसको ही अपना अस्तित्व अथवा जीवन मान लेने से प्राणी को अनेक प्रकार के अभाव प्रतीत होने लगते हैं। उन अभावो से पीडित हो वह प्राप्त परिस्थिति से असन्तुष्ट हो जाता है और अप्राप्त परिस्थिति का आवाहन करने लगता है। इससे सुख की आशा और दु ख का भय उत्पन्न हो जाता है। परिणामत वर्तमान कार्य करने की उत्कण्ठा दब जाती है। आलस्य और शिथिलता आ जाती है। प्राणी अपने कर्तव्य को भूल जाता है और दूसरो के कर्तव्य की प्रतीक्षा करने लगता है, जिससे स्वार्थभाव पुष्ट होता है। इन दोषो के कारण निरर्थक संकल्पो का प्रवाह चलने लगता है और जीवन में असमर्थता तथा पराधीनता आ जाती है।

परिस्थिति में जीवन-बुद्धि होने से जडता आती है, जिससे प्राणी इन्द्रियो के स्वभाव में आबद्ध हो जाता है। इससे वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता उत्पन्न हो जाती है। उसे वस्तुओ में ही सभ्यता, सुन्दरता एव सुखरूपता प्रतीत होने लगती है, जो कामनाओ को उत्पन्न करने में समर्थ हैं। यदि प्राणी इन्द्रियजन्य ज्ञान का उपयोग वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से सुन्दरतापूर्वक करने में करे और बुद्धिजन्य ज्ञान का शरीर आदि

वस्तुओ पर विचार करने में करे तो प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन, क्षण-भगुरता, मलिनता आदि विकारो का दर्शन होगा। इस बुद्धिजन्य ज्ञान का प्रभाव ज्यो-ज्यो सवल और स्थायी होता जायगा, इन्द्रियजन्य ज्ञान का प्रभाव मिटता जायगा और कामना-निवृत्ति द्वारा प्राणी को चिर शान्ति प्राप्त हो जायगी।

यदि चित्त शुद्ध करना है तो प्रत्येक कार्य स्वार्थभाव को त्याग, सावधानीपूर्वक करना होगा, जिससे विद्यमान राग की निवृत्ति हो जायगी, नवीन राग उत्पन्न नही होगा। रागरहित होते ही द्वेप स्वत मिट जायगा, जिससे हृदय मे स्नेह की वृद्धि होगी। स्नेह की वृद्धि से चित्त की नीरसता और खिन्नता मिट जायगी, जिसके मिटते ही चित्त शान्त और प्रसन्न हो जायगा। ज्योही चित्त मे शान्ति और प्रसन्नता वढ जायगी, चित्त स्वस्थ होता जायगा।

(७)

भय और प्रलोभन में आवद्ध होना ही चित्त की अशुद्धि है। जब हमारी प्रसन्नता किसी और पर अर्थात् जो अपना नही है, अपने से भिन्न है, निर्भर हो जाती है तव अनेक प्रकार के भय और प्रलोभन उत्पन्न हो जाते हैं। जब साधक विवेकपूर्वक किसी भी वस्तु को अपनी नही मानेगा, तव सुगमतापूर्वक वस्तुओ की दासता से मुक्त हो जायगा। वस्तुओ की दासता से मुक्त होते ही सभी कामनाएँ मिट जायेंगी। कामनाओ के मिटते ही अपने से जो दूरी तथा भेद प्रतीत होता था, वह स्वत मिट जायगा, जिसके मिटते ही समस्त भय तथा प्रलोभन निर्मूल हो जायेंगे।

वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता में प्राणी आवद्ध होता है अपने को वस्तु मानकर। फिर वह अनेक वस्तु, व्यक्ति की आवश्यकता अनुभव करने लगता है। इनके वियोग से भयभीत होता है और सयोग का प्रलोभन होता है। सम्बन्ध तथा विश्वास के आधार पर ही वस्तु, व्यक्ति आदि से एकता का भास होता है। वस्तुओ के स्वरूप का ज्ञान होने पर उनका विश्वास मिट जाता है और सम्बन्ध-विच्छेद होने पर वस्तुओं से भिन्नता का वोध हो जाता है। वस्तुओ का विश्वास मिटते ही लोभ-मोह

आदि सभी दोष मिट जाते हैं। इनके मिटते ही हानि का भय और लाभ का प्रलोभन, वियोग का भय और संयोग का प्रलोभन स्वत मिट जाते हैं।

(८)

कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव से की गयी प्रवृत्ति का प्रभाव चित्त में अंकित होता है। करने और भोगने की रुचि इन्द्रियों के ज्ञान में सद्भाव उत्पन्न होने से होती है। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति का महत्त्व विद्यमान राग की निवृत्ति में है, पर प्राणी असावधानी से नवीन राग उत्पन्न कर लेता है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। भोग की रुचि से कर्तृत्व के अभिमान का जन्म होता है और कर्तृत्व के अभिमान से ही भोग में प्रवृत्ति होती है। वास्तव में जो कुछ हो रहा है, वह समष्टि शक्तियों द्वारा ही हो रहा है, पर प्राणी स्वयं अपने को कर्ता और भोक्ता मानकर सुख-दु ख में आबद्ध हो जाता है।

प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और वस्तु किसी भी प्राणी की व्यक्तिगत नहीं है, सभी को समष्टि शक्तियों से प्राप्त है, अथवा यों कहें कि उस अनन्त की देन है। मिली हुई वस्तुओं को अपना मान लेना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि प्राणी मिली हुई वस्तुओं का उपयोग जिससे मिली है उसीके नाते कर डाले, उन्हें अपना न मानकर सर्वहितकारी कार्यों में लगा दे तो वह सुगमतापूर्वक अभिमानरहित या राग-द्वेषरहित हो सकता है। निरभिमानता आते ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वत मिट जाता है, अथवा राग त्याग और द्वेष प्रेम में बदलता जाता है तथा चित्त शुद्ध हो जाता है।

कर्म-सामग्री भी अपनी नहीं है और कर्म का फल भी अपने अधीन नहीं है। केवल प्राप्त सामग्री का उपयोग करने मात्र का प्राणी का अधिकार है। जिसने कर्म करने का सामर्थ्य दिया है, उसने विवेक के स्वरूप में विधान भी दिया है। अतः विवेकपूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग किया जाय और जो कुछ हो रहा है, उसमें सन्तुष्ट रहा जाय तो सभी दोष स्वत मिट जायेंगे और चित्त शुद्ध हो जायगा।

(९)

व्यर्थ चिन्तन में आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। जिन वस्तुओ की प्राप्ति कर्मसापेक्ष है, उनका चिन्तन व्यर्थ चिन्तन है। कर्म का सम्पादन प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तुओ से होता है और उसका परिणाम भी किसी न किसी परिस्थिति के रूप में ही होता है। सभी परिस्थिति उत्पत्ति-विनाशयुक्त है। इस दृष्टि से कर्म का फल नित्य नही है। प्रत्येक कर्म के मूल में सकल्प-पूर्ति का महत्त्व है।

यदि सकल्प-पूर्ति सकल्प-निवृत्ति का साधन नही है तो उसका अर्थ है वस्तु, व्यक्ति आदि से सम्बन्ध अर्थात् भोग। भोग का परिणाम है रोग और शोक। सकल्प चाहे कैसा भी हो, उसकी पूर्ति में सुख तो समान ही होता है, पर संकल्प-पूर्ति से जो परिस्थिति उत्पन्न होती है, उसमें भेद होता है। शुद्ध सकल्प की पूर्ति से सुन्दर समाज का निर्माण और अशुद्ध सकल्प की पूर्ति से समाज दूषित हो जाता है। सकल्प-पूर्ति का सुख उतने ही काल भासता है, जब तक दूसरा सकल्प उत्पन्न नही होता। इस दृष्टि से सकल्प-पूर्ति का परिणाम क्षणिक सुख है और उसके आदि तथा अत में घोर दु ख है। अत यदि सकल्प-पूर्ति के क्षणिक सुख का त्याग कर दिया जाय तो सकल्प-पूर्ति का भय अपने-आप मिट जाता है, जिसके मिटते ही अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में समता का ही दर्शन होता है। सकल्प-पूर्ति का प्रलोभन और सकल्प-अपूर्ति का भय रहते हुए न तो व्यर्थ चिन्तन का अन्त ही होगा, न सार्थक चिन्तन का उदय होगा और न चित्त ही निर्मल होगा। अत सकल्प-पूर्ति के क्षणिक सुख के त्याग में ही अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति विहित है।

(१०)

(क)

जो सभव है उसमें प्रवृत्ति न हो अथवा उसकी लालसा तथा जिज्ञासा न हो और जो असभव है उसका चिन्तन हो, यही चित्त की अशुद्धि है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग, सत्य की खोज, प्रिय की लालसा सभव है और वस्तु, व्यक्ति आदि से नित्य योग असभव है, क्योकि प्रत्येक वस्तु

स्वभाव से परिवर्तनशील है और प्रत्येक संयोग वियोग में बदलता ही है। किसीके भी सभी संकल्प पूरे नही होते, परन्तु जो संकल्प पूरे नहीं हो सकते, उनका त्याग संभव है और संकल्प-पूर्ति के सुख की दासता से साधक मुक्त भी हो जा सकता है। जो हो सकता है उसके कर डालने से जो मिलना चाहिए, वह मिल जाता है। अत जो असंभव है उसका त्याग करके जो संभव है उसको पूरा करने से चित्त स्वत शुद्ध हो जायगा।

(ख)

गुण-दोषयुक्त अवस्था में आसक्त होने से चित्त अशुद्ध हो जाता है, क्योंकि द्वन्द्वात्मक स्थिति में गुण का अभिमान और दोष की उत्पत्ति स्वत होती है। जब प्राणी दोष के ऊपर गुण का लेप कर लेता है तब गुण-दोष-युक्त द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है, जो उसे अपराधी भाव या मिथ्या अभिमान में आबद्ध कर देता है। गुण-दोषयुक्त अवस्था की आसक्ति कर्तव्यनिष्ठ होने से स्वत मिट जाती है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दशा में कर्तव्यनिष्ठ हो सकता है। क्योंकि विद्यमान ज्ञान और सामर्थ्य के सदुपयोग में ही कर्तव्य-परायणता की पराकाष्ठा है। व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, कर्तव्य-पालन में असमर्थता नही होती, केवल असावधानी होती है। यह कर्तव्य-पालन तभी हो सकता है, जब व्यक्ति अपनी वास्तविकता को छिपाने का प्रयास न करे, प्रत्युत जो सत्य है उसको निर्भयतापूर्वक प्रकाशित करे और उस परिस्थिति के अनुसार जो कर्तव्य है उसके पालन करने में दृढ हो। ऐसा करने से आवश्यक सामर्थ्य अपने-आप आ जाती है। निर्भयता आने पर सामर्थ्य का सद्व्यय होने लगता है। सामर्थ्य के सद्-व्यय से गुण-दोषयुक्त अवस्था की आसक्ति मिट जाती है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

(ग)

रुचि-अरुचि के द्वन्द्व में आबद्ध प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है। रुचि राग को और अरुचि द्वेष को उत्पन्न करती है। राग से बन्धन और द्वेष से भेद की दृढता होती है। बन्धन से जड़ता तथा पराधीनता और भेद से भय तथा संघर्ष का जन्म होता है। जडता से अपने में देह-भाव की

दृढता, पराधीनता से वस्तु, व्यक्ति आदि की दासता, भय से प्राप्त शक्ति का ह्रास और सघर्ष से हिंसा आदि विकारो की उत्पत्ति होती है, जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है।

अपने को देह अथवा देह को अपना मान लेने पर रुचि-अरुचि का द्वन्द्व उत्पन्न होता है। देहाभिमान प्राणी को शुभाशुभ कर्म, सार्थक-निरर्थक चिन्तन एव अविकल्प तथा निर्विकल्प स्थिति में आवद्ध करता है। किसी भी अवस्था में आवद्ध होने से रुचि-अरुचि का द्वन्द्व चलता रहता है। इस द्वन्द्व को समाप्त करना आवश्यक है। या तो ऐसी रुचि जागृत हो जाय, जिसकी पूर्ति या अपूर्ति क्षोभ उत्पन्न न करे या सभी रुचियो का अन्त हो जाय। ऐसी रुचि, जो कभी अरुचि में न बदले, प्रीति ही हो सकती है। प्रीति पूर्ति-अपूर्ति से विलक्षण है, रसरूप है, काम की नाशक है, अत रुचि-अरुचि का द्वन्द्व इससे मिट सकता है। ऐसी अरुचि, जिससे किसी रुचि का जन्म न हो, असगता ही हो सकती है। असगता से निर्वासना आती है। निर्वासना से प्रीति सबल होती है और प्रीति से वासनाओ का अन्त होता है। इस दृष्टि से प्रीति सभी रुचि और असगता-रूपी अरुचि से रुचि-अरुचि का द्वन्द्व सदा के लिए मिट सकता है, जिसके मिटते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।

(घ)

आसक्ति और अनासक्ति के द्वन्द्व में चित्त की अशुद्धि निहित है। वर्तमान जीवन के जिस स्तर पर मात्र आसक्ति है, उस स्तर में अशुद्धि होने पर भी चित्त की शुद्धि का प्रश्न वर्तमान की वस्तु नही बनता, अपितु जीवन के जिस स्तर पर आसक्ति के साथ अनासक्ति का भी प्रकाश है, उसी स्तर में चित्त-शुद्धि की समस्या उत्पन्न होती है। संकल्प-अपूर्ति के दु ख का भय और सकल्प-पूर्ति की सुख की दासता ही भोगासक्तियो को पोषित करती है, जिससे चित्त अशुद्ध होता है।

आसक्ति की वास्तविकता जान लेने पर आसक्ति मिटाने की सामर्थ्य स्वत आ जाती है। आसक्ति सदैव उसके प्रति होती है, जिससे मानी हुई एकता और स्वरूप की भिन्नता हो। देह तथा देही में भी सम्बन्ध की

स्वीकृति और वास्तविक भिन्नता है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी को देह के परिवर्तन और अपने अपरिवर्तन का ज्ञान है। देह की आसक्ति के आधार पर ही समस्त वस्तुओ मे आसक्ति होती है, क्योंकि देह के लिए ही वस्तुओं की अपेक्षा है। सूक्ष्म देह की आसक्ति विचारधाराओ, सम्प्रदायो और मतो मे आसक्ति उत्पन्न करती है। विचारो की आसक्ति दलो, सम्प्रदायो में सघर्ष करती है। आसक्तियुक्त प्राणी अपनी विचारधाराओ के आधार पर अनेक व्यक्तियो की सगति कर व्यक्त-अव्यक्त रूप से अपने व्यक्तित्व की पूजा कराता है, जिससे वह पराधीन होकर चित्त को अशुद्ध कर लेता है। सर्वांश में अनासक्ति आ जाने पर प्रत्येक वस्तु, विचार आदि का सदुपयोग हो सकता है, परस्पर में भेद तथा सघर्ष नहीं हो सकता। भेद तथा सघर्ष का अन्त होने पर चित्त शुद्ध हो सकता है।

वर्तमान वस्तुस्थिति में प्रत्येक प्राणी को सकल्प की उत्पत्ति, पूर्ति और अपूर्ति का चित्र दिखाई देता है। सकल्प-उत्पत्ति का दु ख सकल्प-पूर्ति से क्षणमात्र के लिए दब जाता है, परन्तु जब ऐसे सकल्प उत्पन्न हो जाते हैं, जिनकी पूर्ति सभव नही होती, तब प्राणी संकल्प-पूर्ति के चिन्तन मे आबद्ध होकर परिस्थितियो का दास बन जाता है और पराधीनता तथा जड़ता में आबद्ध होता जाता है, जिससे चित्त की अशुद्धि दृढ़ हो जाती है। जब संकल्प-अपूर्ति का दु ख सकल्प-पूर्ति की महत्ता को समाप्त कर देता है, तब संकल्प-निवृत्ति के जीवन में श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न होता है। तब अनावश्यक और अशुद्ध सकल्प उत्पन्न नही होते और आवश्यक तथा शुद्ध सकल्प पूरे होकर मिटते जाते हैं और संकल्प-निवृत्ति की दृढता स्वत होने लगती है। इससे प्राप्त वस्तुओ की ममता और अप्राप्त वस्तुओ का चिन्तन भी स्वत मिटता जाता है और अहंभाव निर्जीव हो जाता है। अहं और मम का अन्त होते ही सभी आसक्तियाँ स्वत मिट जाती हैं। इस प्रकार सकल्प-निवृत्ति वस्तुओ की आसक्ति को समाप्त कर अनासक्ति प्रदान करती है और सकल्प-निवृत्ति की असगता अहंभाव को गलाकर अभिन्नता प्रदान करती है तथा अनासक्ति के अभिमान को भी समाप्त कर देती है। तब चित्त शुद्ध हो जाता है।

(११)

जब प्राणी करने में सावधान और होने में प्रसन्न नहीं रहता, तब चित्त अशुद्ध हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति मे करने की रुचि विद्यमान है और उसे रुचि की पूर्ति तथा निवृत्ति की सामर्थ्य भी प्राप्त है। इस दृष्टि से प्राप्त के सदुपयोग में ही प्राणी का पुरुषार्थ निहित है। परन्तु जब प्राणी असावधानी के कारण प्राप्त का सदुपयोग नहीं करता, तब वह जो नही करना चाहिए वह करने लगता है। इस प्रकार कर्तव्य के अभाव में अकर्तव्य का जन्म होता है, जिससे चित्त उत्तरोत्तर अशुद्ध होता जाता है।

प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग तभी सभव होगा, जब वह जिस परिस्थिति मे जो कर सकता है उसके अतिरिक्त कुछ भी करने की बात न सोचे और जो कर सकता है, उससे अपने को न बचाये। विद्यमान राग की निवृत्ति परिस्थिति के सदुपयोग में ही निहित है। जो करने में सावधान नहीं रह सकता, वह कभी भी वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति की ओर अग्रसर नही हो सकता। विवेक-विरोधी चेष्टाओ का अन्त किये बिना कोई भी व्यक्ति करने में सावधान नही रह सकता है। साराश यह है कि करने में सावधान रहने के लिए वास्तविक उद्देश्य का ज्ञान, प्राप्त परिस्थिति का आदर और उसका सदुपयोग तथा परिस्थिति के अनुरूप ही कर्तव्यनिष्ठा तथा विवेक के प्रकाश से प्रकाशित प्रवृत्तियो का होना अनिवार्य है। जो व्यक्ति करने में सावधान रहता है, उसका चित्त अशुद्ध नही होता और जिसका चित्त अशुद्ध नही होता, उसे जो कुछ हो रहा है उसमें अपने मगल का ही दर्शन होता है, क्योकि उसमें अनन्त का मगलमय विधान ओतप्रोत है। तब फिर जो हो रहा है उसमें प्रसन्न न होना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। फलत जो करने में सावधान है वही होने में प्रसन्न रह सकता है 'और जो होने में प्रसन्न रहता है, वही करने मे सावधान हो सकता है। कर्मप्रधान व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियाँ सेवा, विवेकप्रधान व्यक्ति की समस्त प्रवृत्तियाँ, रागरहित होने का साधन और भावप्रधान व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति पूजा होती है। इस क्रम से प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता, रुचि व सामर्थ्य के अनुरूप कर्तव्य-पालन द्वारा चित्त शुद्ध कर सकता है।

(१२)

चित्त की शुद्धि में ही समस्त विकास निहित है, क्योकि चित्त शुद्ध हुए विना असमर्थता का नाश नही होता, न अभाव का अभाव होता है और न अगाध अनन्त रस की उपलब्धि होती है। चित्त-शुद्धि में ही उत्कृष्ट परिस्थिति एव आवश्यक वस्तुओ की प्राप्ति भी निहित है, क्योकि चित्त की अशुद्धि से ही प्राणी वस्तुओ के अभाव में आवद्ध हो जाता है, जिससे उत्तरोत्तर अवनति की ओर ही गतिशील होता रहता है। चित्त की शुद्धि में ही करुणा, उदारता तथा आत्मीयता की अभिव्यक्ति निहित है। करुणा सामर्थ्य को, उदारता स्वाधीनता की और आत्मीयता प्रेम की प्रतीक है। सामर्थ्य, स्वाधीनता और प्रेम की अभिव्यक्ति में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

ज्यो-ज्यो प्राणी कर्तव्यनिष्ठ होता जाता है, त्यो-त्यो उसके चित्त की अशुद्धि स्वत मिटती जाती है और चित्त उसके अधीन होता जाता है। इतना ही नही, प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में चित्त का निरोध अपने-आप होने लगता है। चित्त के निरोध में ज्यो-ज्यो गाढता आती जाती है, आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव होता जाता है। आवश्यक सामर्थ्य का प्रादुर्भाव जड़ता को चिन्मयता में, पराधीनता को स्वाधीनता में और मृत्यु को अमरत्व में विलीन कर देता है, जिससे चित्त से असगता स्वत. प्राप्त होती है और आध्यात्मिक जीवन से अभिन्नता हो जाती है। इससे स्वाधीनता प्राप्त होती है। स्वाधीनता में ही सन्तुष्ट न रहने पर अपने-आप प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही चित्त जैसी वस्तु शेष नही रहती। इस प्रकार चित्त का निरोध चित्त से असगता और चित्त का अभाव चित्त-शुद्धि की परावधि है।

चित्त-शुद्धि वर्तमान की वस्तु है। उसे भविष्य पर नही छोड़ना चाहिए और न उससे कोई विरोध होना चाहिए। प्रत्येक की चित्त-शुद्धि के लिए चिन्तन व आस्था और उत्कण्ठा जागृत रहनी चाहिए। तभी चित्त शुद्ध हो सकता है और चित्त शुद्ध होने पर समस्त समस्याएं हल हो सकती हैं। इस दृष्टि से चित्त-शुद्धि अनिवार्य है।

२

समाज-दर्शन : ५ :

अनेक प्रकार की भिन्नता में एकता स्थापित करने का जो परिणाम है, वही समाज है। पर इसका अर्थ यह नही है कि सर्वहितकारी सद्भावना से रहित जो पारस्परिक एकता है, वह भी समाज का शुद्ध रूप है। मानव सामाजिक प्राणी है। वह सभी से अपने को और अपने को सभी से अभिन्न करना चाहता है। वह तभी सभव होगा, जब मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को व्यक्तिगत न माने, अपितु जो कुछ मिला है वह समाज की धरोहर समझे—अर्थात् प्राप्त वस्तु, योग्यता आदि समाज के हित में व्यय करे। ऐसा करने से सभी के अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं और पारस्परिक संघर्ष स्वत मिट जाते हैं। इतना ही नही, सारा समाज एकजीवन हो जाता है और इकाई और समूह का ऊपरी भेद रहने पर भी आन्तरिक एकता हो जाती है। ऐसे समाज की माँग व्यक्ति को और ऐसे व्यक्ति की माँग, जो एकता स्थापित करने में प्रयत्नशील है, समाज को रहती है। व्यक्तिगत आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए समाज की माँग होती है। कारण कि कोई भी एक व्यक्ति अपनी सारी आवश्यकताओ को अपने द्वारा पूरी नही कर सकता। इसके साथ-साथ यदि वह स्वयं दूसरो की आवश्यकता-पूर्ति में सहयोग नही देता तव भी समाज का निर्माण नही होता। समाज का निर्माण एक-दूसरे को आवश्यकता-पूर्ति में सहयोग देने के लिए है। प्राकृतिक पदार्थ, शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम द्वारा सामाजिक आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन होता है। प्राकृतिक नियमानुसार उत्पादन के साधन और

उत्पादित वस्तु व्यक्तिगत नही है। जो व्यक्तिगत नही है, उसके उपयोग में अधिकार है, ममता में नही और न उसके दुरुपयोग का ही अधिकार है। जिस किसी मानव ने जो कुछ उत्पादन किया है उसका वह स्वय ही उपभोग नही कर सकता, अपितु एक-दूसरे का उत्पादन एक-दूसरे के काम आता है। यदि उत्पादन-कर्ता उत्पादित वस्तु को अपनी मान लेता है और उन प्राणियो को अपना नही मानता, जिनके लिए वे वस्तुएँ उपयोगी हैं, तव सामाजिक एकता सुरक्षित नही रहती और भिन्न-भिन्न प्रकार के सघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं, जो विनाश के मूल हैं। उत्पादन-शक्ति जितनी उपयोगी है, उतनी ही उपयोगी वह भावना भी है, जिससे प्रेरित होकर उत्पादन का सदुपयोग हो सके। यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार के वल का सम्पादन प्रत्येक मानव को स्वभाव से प्रिय है, परन्तु उत्पादित वलो का सामाजिक हित में व्यय न करने से वल उत्पादक के विनाश में हेतु होता है। इस दृष्टि से वल का सम्पादन किसी निर्वल की सेवा में है, मिथ्या अभिमान में आवद्ध होने के लिए नही। सबल और निर्वल की एकता ही समाज का सुन्दर चित्र है। वल के द्वारा निर्वलो का विनाश करना और समाजवाद के गीत गाना अपने ही द्वारा अपने को धोखा देना है। यह सभी को मान्य है कि वल का उपयोग उनके प्रति सभव नही है, जो अपने से अधिक वली हैं। वल का सदुपयोग तो एकमात्र निर्वलो की सेवा में है। प्राकृतिक नियमानुसार जो वल निर्वलो की सेवा में व्यय होता है, वह अधिक सुरक्षित रहता है और उत्तरोत्तर वढता है, घटता नही। इस दृष्टि से वल का उत्पादन, उसकी सुरक्षा एकमात्र निर्वलो की सेवा में ही निहित है। जिस मानव का हृदय पर-पीड़ा से पीड़ित नही होता वह सम्पादित वल का सद्व्यय नही कर पाता। वल का दुरुपयोग तभी होता है, जव मानव पर-पीड़ा से पीड़ित न हो तथा सुखियो के सुख का सहर्ष सहन न कर सके। वल के दुरुपयोग से ही निर्वलताएँ उत्पन्न होती हैं। अत निर्वलताओ का अन्त करने के लिए प्राप्त वल का सदुपयोग अनिवार्य है। वल के सदुपयोग से वल की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। कितना ही अधिक वल क्यो न हो,

दुरुपयोग करने पर निर्बलता से और अल्प-से-अल्प वल क्यो न हो, सदुपयोग करने पर सवलता से अभिन्न कर देता है—अर्थात् प्रत्येक सवल को सजगतापूर्वक वल का दुरुपयोग नही करना है। वल के सदुपयोग की सद्भावना तभी उदित होगी, जव मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में यह भलीभाँति अनुभव करे कि स्वरूप से शरीर और विश्व का, व्यक्ति और समाज का विभाजन संभव नही है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव की आकृति और कार्य भिन्न-भिन्न हैं, पर एक का कार्य दूसरे के सहयोग में होने से शरीर में एकता और अनेकता का वडा ही सुन्दर चित्र दिखाई देता है, उसी प्रकार समाज की प्रत्येक इकाई का कार्य भिन्न-भिन्न होने पर भी यदि प्राकृतिक नियमानुसार एक-दूसरे के सहयोग में होता है तो शरीर की भाँति सारा समाज एक है और अवयवो की भाँति प्रत्येक इकाई अलग है। एकता और भिन्नता का स्पष्ट दर्शन तभी होता है, जव मिला हुआ पर-हित में काम आये, व्यक्तिगत सुख-भोग के लिए न हो। यह सद्भावना प्रत्येक वर्ग, देश आदि के मानव को अपना लेना अनिवार्य है।

प्रत्येक वर्ग, देश, मजहव एव इज्म के मानव यदि समाज को किसी मान्यता की सीमा में वाँध दें तो यह सामाजिक भावना की हत्या है। सामाजिक भावना को किसी वर्ग, देश, मत, सम्प्रदाय, मजहव, इज्म की सीमा में वाँध देना दलवंदी है, समाज नही। दलवन्दियाँ सघर्ष की जननी हैं। सामाजिक भावना एकता तथा शान्ति की जननी है। इस दृष्टि से सामाजिक भावना वड़े ही महत्त्व की वस्तु है। सामाजिक भावना पुष्ट होते ही कोई वर्ग, कोई देश, कोई संगठन किसी वर्ग, देश, सगठन के साथ वल का दुरुपयोग नही कर सकता। असामाजिकता को स्वीकार किये विना पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न ही नही होते। सामाजिक सद्भावना से भी सभी का हित निहित है। इतना ही नही, सामाजिक भावना व्यक्तिगत विकास में भी उपयोगी है, अनुपयोगी नही। सामाजिक भावना का वास्तविक अर्थ है, सर्वात्म-भाव। इससे पूर्व सामाजिकता की चर्चा समाज को अपनी खुराक वनाना है। सामाजिक भावना व्यक्ति को समाज की

खाद बनाती है। खाद उससे अभिन्न हो जाती है, जिसकी वह खाद होती है। सामाजिक भावना से युक्त मानव अपने को विभु पाता है, अर्थात् सामाजिक भावना व्यक्ति को विभु कर देती है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव प्राप्त-विवेक के प्रकाश में अपनी ओर देखे। पालन, पोषण, शिक्षण पाकर ही मानव कुछ देने के योग्य होता है। इससे यह स्पष्ट ही है कि लिया हुआ देना है। लिये हुए को न देने की भावना असामाजिकता को जन्म देती है, यद्यपि प्राकृतिक विधान के अनुसार जो कुछ मिला है वह देने के लिए ही है, सग्रह के लिए नही, ममता के लिए नही। मिले हुए को अपना मानना, उससे तद्रूप हो जाना कामनाओ को जन्म देता है, जो मानव को पराधीनता, जडता एव अभाव में आबद्ध करता है। सामाजिक भावना व्यक्ति के कल्याण में साधनरूप है और व्यक्तिगत निर्माण की अभिरुचि सामाजिक भावना की जननी है। इस दृष्टि से समाज से व्यक्ति का और व्यक्ति से समाज का विकास होता है।

विकसित व्यक्ति समाज के लिए और सुन्दर समाज व्यक्तियो के विकास के लिए उपयोगी है। व्यक्ति और समाज का विभाजन उसी प्रकार है, जिस प्रकार शरीर और उसके अवयवो का विभाजन। कोई भी अवयव पूरा शरीर नही है, पर प्रत्येक अवयव शरीर से अभिन्न है। उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति समाज से अभिन्न भी है और उससे भिन्न भी। विवेकपूर्वक देखने से यह स्पष्ट ही है कि जो कुछ दिखाई देता है वह उसका दृश्य है, जो उसे देखता है। दृश्य और देखने के साधन दोनो दृश्य के ही अन्तर्गत हैं। इसका अर्थ यह है कि देखनेवाला एक है और देखने के साधनो में तथा दृश्यो में अनेकता है। यदि दृश्य और देखने के साधन उसके अन्तर्गत न होते, जो एक हैं, तो इन तीनो का सम्बन्ध ही सिद्ध न होता। जो देखता है, जब वह दृश्य से सुख की आशा करता है तब वह अपने मे परिच्छिन्नता और पराधीनता पाता है, पर सुखमय-दु खमय दृश्य को देख जब मानव प्रसन्न तथा करुणाशील होने लगता है तब उसमें व्यक्तिगत सुख-भोग की रुचि नही रहती और न काम की ही

उत्पत्ति होती है। निष्कामता और योग प्राप्त होने पर अनेकता एकता में ही विलीन होती है। उसी एकता का समर्थन करने के लिए व्यक्ति और समाज में पारस्परिक एकता अनिवार्य है। अनेकता का उद्‌गम एक है और अनेकता अन्त में एक ही विलीन होती है। अतः एक और अनेक का स्वरूप से विभाजन नही है। पारस्परिक विकास में सहयोग देने के लिए ही व्यक्ति और समाज की भिन्नता और एकता है।

अध्यात्मवाद की दृष्टि से अर्थात् विचार-पथ से समस्त विश्व अपनी ही एक अवस्था है और आस्तिकवाद अर्थात् विश्वास-पथ की दृष्टि से यह सब कुछ अनन्त की अनुपम लीला है एव भौतिकवाद अर्थात् कर्तव्य-पथ की दृष्टि से समस्त सृष्टि एक इकाई है, और कुछ नही। जो स्वरूप एक परिवार का है, वही समाज का है। जिन साधनो से पारिवारिक विकास होता है उन्ही साधनो से सामाजिक विकास होता है। एक ही परिवार में युवक, युवती तथा वृद्ध और बालक रहते हैं। परिवार के वे सदस्य, जो समर्थ हैं, असमर्थ बालक और वृद्ध की सेवा करते हैं। यही सद्‌भावना समाज के लिए भी उपयोगी है। समाज की सगृहीत शक्ति तथा सम्पत्ति समाज के उस भाग की सेवा में, जो असमर्थता से पीड़ित है, व्यय होनी चाहिए, अर्थात् रोगी, वालक, वृद्ध तथा समाज के वे इने-गिने व्यक्ति, जिनका सारा समय सत्य की खोज तथा सेवा में व्यय होता है, अर्थात् समाज का जो वर्ग उत्पादन करने में असमर्थ है, सगृहीत सब प्रकार की शक्तियाँ उसी वर्ग की सेवा के लिए हैं। व्यक्तिगत सुख-भोग के लिए सगृहीत सम्पत्ति आदि का व्यय करना समाज और व्यक्ति में स्थायी भेद तथा भिन्नता को जन्म देना है, जो विनाश का मूल है। रोगी, वाल, वृद्ध उपार्जन में असमर्थ हैं और सेवा में रत तथा सत्य की खोज में लगे हुए मानव को उपार्जन का अवकाश नही है। इस दृष्टि से वे सगृहीत सम्पत्ति के अधिकारी हैं। समाज के इन वर्गों की जब यथोचित सेवा नही होती तब सुन्दर समाज नही रहता। अल्पसख्यक अधिक सुखी हो जायँ और बहु-सख्यक बहुत दु खी हो जायँ अर्थात् कुछ लोगो के पास आवश्यकता से अधिक सामग्री हो और कुछ लोगो को आवश्यक वस्तु भी उपलब्ध न हो,

ऐसी भयकर परिस्थिति में अनेक सघर्ष उत्पन्न होते हैं। ऐसी दशा में विचारशील मानव सेवा-परायण होकर, सेवा की सद्भावना को व्यापक कर व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित करते हैं। सेवा का अर्थ वल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर नही है, अपितु वल का सदुपयोग ही सेवा का क्रियात्मक रूप है और सर्वहितकारी सद्भावना सेवा का भावात्मक रूप है और व्यक्तिगत सुख के प्रलोभन का नाश और सभी में प्रियता स्वीकार करना सेवा का विवेकात्मक रूप है। क्रियात्मक, भावात्मक, विवेकात्मक सेवा अपना लेने पर व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित होती है।

व्यक्ति माली है और समाज वाटिका। वाटिका का माली वाटिका की सेवा में रत भी रहता है और उसी पर निर्भर भी। इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज दोनो ही पारस्परिक विकास में हेतु हैं। समाज को अधिक सख्या सुन्दर व्यक्तियो की आवश्यकता अनुभव करती है। कारण कि एक-एक सुन्दर व्यक्ति के पीछे अनेक व्यक्ति चलते हैं। इस दृष्टि से समाज सेवा का क्षेत्र है और व्यक्ति सेवक है। सेवा जिसकी की जाती है उसकी अपेक्षा उसका अधिक विकास होता है, जो सेवा करता है। इस दृष्टि से समाज व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास में हेतु है। पर जो मानव निज-विवेक के प्रकाश में स्वय अपने को सुन्दर नही वनाता है वह सेवा नही कर पाता। सेवा करने के लिए सर्वप्रथम अपने को सुन्दर वनाना अनिवार्य है, जो मात्र प्राप्त वल के सदुपयोग तथा विवेक के आदर से ही सभव है। व्यक्ति का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सर्वहितकारी प्रवृत्ति से सुन्दर समाज का निर्माण और निर्ममता, निष्कामतापूर्वक सहज निवृत्ति से व्यक्ति का कल्याण होता है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति का अन्त सहज निवृत्ति में होता है और सहज निवृत्ति से सर्वहितकारी प्रवृत्ति की सामर्थ्य आती है। जिसे अपने लिए त्याग अभीष्ट नही है उसके द्वारा सर्वहितकारी प्रवृत्ति सम्पादित नही होती और जिसका हृदय पर-पीड़ा से पीड़ित नही है, उसमें त्याग का वल नही आता। इस दृष्टि से व्यक्ति का कल्याण तथा सुन्दर समाज का

निर्माण एक ही जीवन का कार्यक्रम है। इन दोनो में विभाजन करना और इनको अलग-अलग मानना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नही है।

मानव स्वभाव से ही दूसरो की दृष्टि में आदर के योग्य होना चाहता है। इसी माँग से प्रेरित होकर सेवा के योग्य न होने पर भी सेवा करने लगता है और फिर असफल होकर पर-निन्दा में प्रवृत्त होता है। इसका एकमात्र कारण यह है कि जिस अश में दूसरो की सेवा करने का प्रयास करने लगता है, जो नही कर सकता। इस दृष्टि से समाज की सेवा उसी अश में की जा सकती है, जिस अश में अपने को सुन्दर बना लिया है। समाज का विकास और ह्रास व्यक्ति की वृत्तियो पर ही निर्भर है। सामूहिक माँग प्राकृतिक नियमानुसार सुन्दर व्यक्तियो को जन्म देती है। इस दृष्टि से व्यक्ति के सुन्दर होने में अदृश्य रूप से समाज भले ही हेतु हो, किन्तु समाज के उत्थान का क्रियात्मक कार्यक्रम सजग व्यक्तियो से ही आरम्भ होता है और समाज के विनाश का बीज भी प्रमादी व्यक्तियो से ही उत्पन्न होता है। एक-एक व्यक्ति की भूल से अनेक परिवार नष्ट हो जाते हैं। इस दृष्टि से महत्त्व उन्ही व्यक्तियो का है, जो सजग हैं। व्यक्ति होने मात्र से समान मूल्याकन करना किसी चतुर व्यक्ति की वह नीति है, जो अनेक व्यक्तियो को थपकी देकर उन पर शासन करना चाहता है। सुन्दर व्यक्ति स्वय के द्वारा उत्कृष्टता की ओर अग्रसर होते हैं और अदृश्य रूप से चराचर जगत् उनकी सेवा करता है। इस दृष्टि से व्यक्तिगत सौन्दर्य भी किसीकी उदारता, सेवा तथा प्रियता ही है। व्यक्ति ने वास्तविकता की खोज की है, वास्तविकता किसी व्यक्तिविशेष की उपज नही है। खोज से उसीकी प्राप्ति होती है, जिसका स्वतत्र अस्तित्व सदैव है। जिस प्रकार मीठापन सभी मिठाइयो में चीनी का ही है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में सौन्दर्य उसीका है, जो सभी का सब कुछ होने पर भी सभी से अतीत है, जिसकी माँग बीज-रूप से मानवमात्र में विद्यमान है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब व्यक्ति समाज की सेवा में रत रहने पर भी समाज से कोई आशा नही करता। समाज से आशा वे ही करते हैं, जो समाज की वास्तविक

सेवा नही कर सकते। अपितु सेवा के रूप में मान और भोग का ही आह्वान करते हैं। मान और भोग की रुचि रखते हुए कभी भी सेवक होना सभव नही है। सेवक वही हो सकता है, जिसके जीवन में पर-पीडा सदैव रहती है। पर-पीड़ा से पीडित होने पर सेवा करने की सामर्थ्य स्वत आती है। मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग ही सेवा का क्रियात्मक रूप है। इस दृष्टि से व्यक्ति सेवक है और समाज सेव्य। सेवक में सव कुछ सेव्य का होता है, अत व्यक्ति में सव कुछ समाज का है। सेव्य का सेवक अति प्यारा होता है। अत व्यक्ति समाज का प्यारा है। अपने प्यारे की महिमा भला किसे प्रिय न होगी और जिसका सव कुछ है, भला वह किसे प्रिय न होगा ? इस कारण व्यक्ति समाज का प्यारा है और समाज व्यक्ति का।

अध्यात्मवाद व्यक्ति को समाज से असग नही करता, अपितु व्यक्तिगत सुखासक्ति से असग करता है, जिसके होते ही प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से कर्तव्य के अभिमान तथा फलासक्ति से रहित, समाज की सेवा स्वत होने लगती है। इस दृष्टि से अध्यात्मवाद सुन्दर समाज के निर्माण में सहायक है, वाधक नही। अध्यात्मवाद की वास्तविकता से अपरिचित होने पर ही कोई भले ही कहने लगे कि अध्यात्मवाद सुन्दर समाज के निर्माण में वाधक है। अध्यात्मवाद असंगता और एकता का समर्थक है, कारण कि अध्यात्मवादी ने दृश्य का स्वतत्र अस्तित्व स्वीकार नही किया। इस कारण असगता की वात अध्यात्मवाद में है, पर अपने से भिन्न की सत्ता को भी स्वीकार नहीं किया, इस दृष्टि से सर्वात्म-भाव की प्रेरणा अध्यात्मवाद में है। अध्यात्मवादी की सेवा अभेद-भाव से होती है, भेद-भाव से नही, पर सेवा से अरुचि की वात अध्यात्मवाद में नही है। अध्यात्मवाद का आरम्भ त्याग से होता है और अन्त सेवा में और भौतिकवाद का आरम्भ सेवा से होता है और अन्त त्याग से। सेवा, समाज के लिए और त्याग अपने लिए अनिवार्य है। सेवा में त्याग का वल और त्याग में सेवा की सामर्थ्य स्वत आती है। ये दोनो परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं, वाधक नहीं। व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर

समाज का निर्माण अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद दोनो को समान ही अभीष्ट है। व्यक्ति किसी वाद को क्यो न माने, वास्तविकता की प्राप्ति के लिए कोई भी वाद वाधक नही है। वाधक तो एकमात्र व्यक्ति का अपना प्रमाद है। प्रत्येक वाद का उद्‌गम मानव-जीवन है। जव मानव अपनी माँग और दायित्व से परिचित हो जाता है तव उसे सभी वाद, पथ से भिन्न कुछ नही मालूम होते। पथ चाहे जैसा हो, उस पर चलने से अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति होती ही है। किसी भी पथ का पथिक हो, किन्तु वल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने पर प्रत्येक मानव सफलता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

विकसित व्यक्तियो से समाज का अहित नही होता और विकसित समाज में किसी व्यक्ति का अहित नही होता, कारण कि इन दोनो का लक्ष्य एक है। लक्ष्य की एकता होने से पारस्परिक स्नेह सुरक्षित रहता है। प्राकृतिक नियमानुसार स्नेह ही वह तत्त्व है, जो अहितकर चेष्टाओ का अन्त कर देता है। इस दृष्टि से विकसित व्यक्ति समाज के लिए और विकसित समाज व्यक्ति के लिए सर्वदा उपयोगी ही सिद्ध होता है। स्नेह की माँग मानव की तो कौन कहे, प्राणिमात्र को स्वभाव से है। माँग उसीकी होती है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। अत यह स्पष्ट विदित होता है कि स्नेह से सभी की जातीय तथा स्वरूप की एकता है। स्नेह का आदान-प्रदान सभी को अभीष्ट है। परन्तु व्यक्तिगत सुख-भोग का प्रलोभन तथा दु ख का भय स्नेह को आच्छादित कर लेता है। तव व्यक्ति और समाज के वीच खाई उत्पन्न हो जाती है। विद्यमान मानवता के विकसित होने पर ही व्यक्ति और समाज के वीच का भेद तथा दूरी नष्ट होती है। मानवता ही वह तत्त्व है, जो सभी के लिए सदैव हितकर है। मानवतायुक्त माँग सदैव समाज को रहती है। अमानवता का अन्त करने के लिए ही समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार की सस्थाओ तथा संघो का जन्म होता है। परन्तु उन सवमें प्राणरूप मानवता ही है। मानवतारहित मानव न तो अपने लिए ही उपयोगी है और न अन्य के लिए। अत मानवता व्यक्तिगत होने पर भी सामाजिक भावना से परि-

पूर्ण है। इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज दोनो ही एक-दूसरे के लिए उपयोगी हैं। व्यक्ति और समाज में विरोध की कल्पना भ्रममूलक है।

एक से अधिक व्यक्ति मिलकर जब अपनी-अपनी निर्बलताओ का अन्त करने के लिए पारस्परिक सहयोग प्रदान करते हैं और निर्बलताओं से रहित होते हैं तब सघ का जन्म होता है। इस दृष्टि से सघ पारस्परिक विकास का साधनमात्र है। साधन किसी साध्य के लिए अभीष्ट है। साध्य मानवमात्र का एक ही है। वह यह कि जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो। प्रेम के अभाव में ही समस्त दोप पोषित होते है। प्रेम का अभाव तभी तक रहता है, जब तक मानव व्यक्तिगत सामर्थ्य का उपयोग व्यक्तिगत सुख-भोग में ही करता है। व्यक्तिगत सुखासक्ति को मिटाने के लिए ही पारिवारिक प्रथा का आरम्भ होता है, परन्तु जब परिवार के सदस्य व्यक्तिगत सुख को सुरक्षित रखने के लिए पारिवारिक प्रणाली को अपनाते हैं तब परिवार और समाज में तथा व्यक्ति और परिवार में भेद उत्पन्न होता है, जो विनाश का मूल है। व्यक्तिगत सुख का प्रलोभन व्यक्तित्व के मोह को पुष्ट करता है। व्यक्तित्व का मोह जीवन में सर्वात्म-भाव की अभिव्यक्ति नही होने देता, जो अवनति का मूल है।

विकसित व्यक्तियो से ही सघ, सस्थाएँ तथा राष्ट्र आदि में सुन्दरता आती है। वह सुन्दरता संघ, संस्था तथा राष्ट्र की नही है, कारण कि जब उनमें विकसित व्यक्ति नही रहते तब परस्पर में सघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से यह मानना कि किसी प्रणाली में सौन्दर्य है, यह धारणा भ्रमरहित नही है। तात्कालिक समस्याओ को हल करने के लिए भले ही किसी प्रणाली का समर्थन तथा विरोध हो, किन्तु कोई भी प्रणाली ऐसी नही हो सकती कि जिसमें विकसित मानव हो और वह उपयोगी न हो और व्यक्तित्व के मोह तथा सुखासक्ति में आबद्ध मानव सभी प्रणालियो को अनुपयोगी सिद्ध कर देते हैं। उपयोगिता और अनुपयोगिता किसी प्रणाली की सीमा में आबद्ध नही हैं। प्रणाली तात्कालिक समस्या का हल है, किन्तु सुन्दर व्यक्तियो द्वारा ही स्थायी रूप से समस्याओ का हल होता है। सुन्दर व्यक्तियों का प्रादुर्भाव किसी प्रणाली पर निर्भर नही है, अपितु मानव की

इस धारणा पर ही निर्भर है कि वह विवेक-विरोधी कर्म, विश्वास तथा संवध का अन्त कर दे, जो व्यक्तिगत सत्संग से ही साध्य है। अपनी समस्याओ पर स्वय विचार करने से व्यक्तिगत सत्संग सिद्ध होता है, पर यह तव सभव होगा, जव मानव अपने ह्रास का कारण किसी और को न माने और किसी अन्य से सुख की आशा न करे, अपितु पर-हित की सद्भावना से प्रेरित होकर प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि का सदुपयोग करे। इससे वडी ही सुगमतापूर्वक प्रणालियो की आसक्ति मिट जायगी और सभी प्रणालियो से व्यक्ति और समाज का विकास होगा। प्रणाली की आसक्ति भी परस्पर एक गहरा भेद उत्पन्न करती है। अपनी-अपनी प्रणाली से अपने-अपने व्यक्तिगत जीवन को सुन्दर वनाया जाय और उस सुन्दरता से परस्पर अनेक वाह्य भेद होने पर भी वास्तविक एकता स्थापित की जाय। यही सुगम, सहज तथा अनुपम प्रयोग है। प्रणाली का उपयोग केवल वल के दुरुपयोग करनेवालो को दुर्वल वनाने में है। कोई भी प्रणाली स्थायी विधान नही है। स्थायी विधान तो सुन्दरता का सम्पादन कर दूसरो को सुन्दरतापूर्वक सुन्दर वनाने में है। प्राप्त वल का उपयोग किसीको निर्वल वनाने में नही करना है, अपितु निर्वल को सवल वनाने में करना है। सवल और निर्वल में भेद वल के दुरुपयोग से होता है। वल का सदुपयोग सवल और निर्वल में एकता स्थापित करता है, जो विकास का मूल है। भिन्नता से ही अनेक सघर्ष उत्पन्न होते हैं। अत सर्वतोमुखी विकास तथा शान्ति के लिए भिन्नता का अन्त करना अनिवार्य है। वह तभी होगा, जव अपनी-अपनी प्रणाली का अनुसरण करते हुए दूसरो की प्रणाली का आदर करें। यह सजगतापूर्वक ध्यान रहे कि अपनी प्रणाली से अपने को सुन्दर वनाना है। समाज को सुन्दरता अभीष्ट है, प्रणाली नहीं।

वल का दुरुपयोग न करने का विधान प्रत्येक सघ तथा सस्था को अपनाना है अर्थात् मानवमात्र को वल के दुरुपयोग का अधिकार नही है। अव यदि कोई यह कहे कि क्या अपनी रक्षा के लिए तो वल का दुरुपयोग किया जा सकता है ? कदापि नही, कारण कि वलपूर्वक सवल पर विजयी होना तो सभव नही है, वल का उपयोग केवल निर्वलो के प्रति होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार निर्बलो की रक्षा में अपनी रक्षा निहित है। यदि सवल सघ, संस्था आदि अपने प्रति वल का दुरुपयोग करें तव भी उसके प्रति बुरी भावना नही करना है। वलपूर्वक शरीर आदि वस्तुओ पर अधिकार हो सकता है, पर मानव की मानवता पर कोई भी वल विजयी हो नहीं सकता। इस दृष्टि से मानव-जीवन मे सवल से भयभीत होने का कोई स्थान ही नही है। प्रसन्नतापूर्वक शरीर आदि वस्तुओ का बलिदान कर मानवता को सुरक्षित रखना है। मानवता वह अविनाशी तत्त्व है, जो मानव-समाज के हृदय पर सतत साम्राज्य करती है। समस्त विधान सोयी हुई मानवता के जगाने मे ही हेतु है। अतः किसी भी सघ, संस्था, राष्ट्र, मजहव, इज्म में यदि जीवन है तो मानवता का है। मानवतारहित सघ, सस्था आदि केवल सघर्ष को ही जन्म देती है, जो विनाश का मूल है। सभी के अधिकार सुरक्षित रहे और मानव सुगमतापूर्वक शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम से अभिन्न हो जायँ। इसी पवित्रतम उद्देश्य की पूर्ति के लिए सभी का प्रयास होना चाहिए। तभी व्यक्ति का कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण सभव है। पवित्रतम उद्देश्य को भुलाकर जो विकास की वात कही जाती है वह भ्रममूलक है। सभी वर्गों, देशो की माँग यह है कि हमारे प्रति सवल वल का दुरुपयोग न करें। जिसकी माँग सभी को है उसे सभी को अपनाना है। यही मगलमय विधान है। इसी दृष्टि से वल के दुरुपयोग का किसीको अधिकार नही। अन्याय का प्रतिकार न्याय तथा प्रेम से ही सभव है। इस प्राकृतिक विधान का आदर प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, देश, समाज, इज्म, मजहव आदि को करना है। ऐसा करने पर प्रत्येक वर्ग, समाज और देश स्वय इतना सुन्दर हो जायगा कि उस पर आक्रमण करने का किसीको साहस ही न होगा, कारण कि आक्रमण उस पर होता है, जिस वर्ग, समाज तथा देश के व्यक्ति निकटवर्ती जन-समाज पर अन्याय करते रहते हैं। उसी किये हुए अन्याय से एक ऐसी सामूहिक भावना उत्पन्न होती है, जो किसी दूसरे वर्ग, देश आदि में विरोधी शक्ति उत्पन्न करती है, जो सघर्ष का मूल है। जिसने किसीके प्रति कभी अन्याय नहीं किया उसके प्रति अन्याय करने का किसीको भी

साहस नही हो सकता। व्यक्तिगत रूप से यह देखा-सुना जाता है कि क्षमाशीलता तथा अहिंसा के पुजारियो की भी हिंसा हुई। इसका अर्थ यह नही है कि जो न्याय तथा प्रेम से युक्त है, उसके प्रति अन्याय हुआ। इस प्रकार की घटनाएँ उन इने-गिने व्यक्तियो के प्रति होती हैं, जिनके वास्तविक जीवन का प्रसार प्राकृतिक विधान का अभीष्ट है। निर्दोष जीवन पर जब दोष का आक्रमण होता है तब निर्दोषता की सद्भावना व्यापक होती है। शरीर आदि की भेंट दे देना निर्दोषता की अंतिम पूजा है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने न्याय तथा प्रेम को अपनाकर अपने को इतना सुन्दर बना लिया है कि उन्हे शरीर आदि वस्तुओ की आवश्यकता ही नही है। शरीर निर्दोषता की व्यापकता में आवरण है। इसी कारण जब निर्दोषता के लिए उस आवरण का बलिदान हो जाता है, तब न्याय तथा प्रेमयुक्त सद्भावनाएँ व्यापक होकर सतत कार्य करती रहती हैं। इस दृष्टि से क्षमाशीलता तथा अहिंसा के पुजारियो को बलिदान देना पडा। यदि ऐसा न हो तो भावना के स्थान पर शरीर की पूजा हो सकती है, जो अवनति का मूल है। मानव का जीवन उसका शरीर नही है, अपितु उसमें जो शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम है, वही जीवन है। शरीर का नाश हो जाना उस जीवन में कोई क्षति नही पहुँचाता, अपितु अन्याय के प्रतिकार में वह शरीर काम आता है। किसी अन्य के विनाश से अन्याय का प्रतिकार उतना स्पष्ट नही होता, जितना अपने व्यक्तित्व के नाश से होता है। व्यक्तित्व के मोह में आबद्ध होने पर ही तो अन्याय का जन्म होता है। अत अन्याय के प्रतिकार के लिए यदि शरीर, प्राण तथा व्यक्तित्व का मोह गल जाय तो न्याय तथा प्रेम की भावना स्वत व्यापक हो जाती है। वास्तविकता की व्यापकता के लिए सब कुछ देना पडता है। सब कुछ देने पर ही वास्तविकता का प्रसार होता है। जिसके लिए मानव प्रसन्नतापूर्वक अपना कुछ नही दे सकता, वह उसका प्रेमी कैसा? न्याय अपने को निर्दोष बनाने में हेतु है और प्रेम अपने को विभु बनाने में समर्थ है। अपने प्रति न्याय करने पर सभी के प्रति प्रेम स्वत होता है। प्रेम की अन्तिम भेंट

है अह और मम का अर्पित करना। जो शरीर अपना रहा ही नहीं, यदि उसका किसीने विनाश किया तो अपनी क्या क्षति हुई? यह क्षति उन्हे प्रतीत होती है, जो शरीर को पूजा करते हैं और वास्तविकता से दूर रहते हैं। शरीर की पूजा में अपने शरीर का अभिमान निहित है। अत देहाभिमानरहित होने पर ही यह रहस्य स्पष्ट होता है कि अपने प्रति सर्वांश में न्याय करने पर निर्दोषता की अभिव्यक्ति होती है, फिर क्षमाशीलता तथा प्रेम के साथ अभिन्नता होती है। क्षमाशीलता तथा प्रेम को व्यापक बनाने के लिए क्षमाशीलो, प्रेमियो तथा अहिंसकों पर आक्रमण होता है, जो क्षमाशीलता, प्रेम तथा अहिंसा के प्रसार में हेतु है। हिंसा का नाश तभी होता है, जब अहिंसक का सर्वस्व उसकी भेंट हो जाता है। अहिंसक के प्रति की हुई हिंसा हिंसा के नाश में हेतु है, हिंसक के नही। हिंसा का उत्तर हिंसापूर्वक देने से हिंसा की भावना सबल तथा स्थायी होती है। प्राकृतिक नियमानुसार क्रोध पर क्षमाशीलता, हिंसा पर अहिंसा और द्वेष पर प्रेम विजयी होता है। पर उसके लिए क्षमाशील, अहिंसक तथा प्रेमियो को शरीर आदि सर्वस्व देना पडता है।

प्राप्त बल का दुरुपयोग न करने पर उत्तरोत्तर बल की वृद्धि होती है। यदि यह नीति प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग तथा देश अपनाये तो सभी सबल हो जायेंगे और फिर परस्पर संघर्ष का जन्म ही न होगा। बल के दुरुपयोग न करने की नीति का अनुसरण मानवमात्र को करना है, तभी ऐसे समाज का निर्माण होगा, जिसे किसी शासक की आवश्यकता न होगी। देश तभी किसीसे शासित होता है, जब देशवासी परस्पर बल का दुरुपयोग करते हैं। बल के दुरुपयोग से अन्याय का प्रतिकार करने पर अन्याय किसी न किसी अंश में जीवित रहता है, जो कालान्तर में पुन सबल हो जाता है। यदि अन्याय का सर्वांश में नाश करना है तो बल के दुरुपयोग न करने की नीति को अपना लेना अनिवार्य है।

बलपूर्वक अन्याय को दबाने से अन्याय का सर्वांश में नाश नही होता। अन्याय का नाश होता है अपने प्रति न्याय तथा दूसरो के प्रति प्रेम और

क्षमा का व्यवहार करने से। वलपूर्वक वल का दुरुपयोग रोकने का प्रयास वल के दुरुपयोग को मिटाने में सफल नही हुआ और न संभव है। शक्ति का वहुत बडा भाग न्यायशाला, पुलिस, फौज आदि में व्यय हो जाता है। शिक्षा, चिकित्सा आदि जीवनोपयोगी कार्य अधूरे रह जाते हैं। यदि मानव-समाज अन्याय पर न्याय से, क्रोध पर क्षमा से और द्वेप पर प्रेम से विजयी होने का प्रयास करे तो वड़ी ही सुगमतापूर्वक वल के दुरुपयोग की भावना का नाश हो सकता है। जो उपाय व्यक्तिगत विकास में हेतु है, वही सामूहिक विकास में भी समर्थ है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा, जव व्यक्तिगत जीवन सुन्दर हो, जो एकमात्र वल के दुरुपयोग न करने में ही निहित है। किसीसे शासित रहने के समान मानव-जीवन का और कोई अपमान नही है। अपने पर अपना शासन करने पर ही मानव पर के शासन से मुक्त होता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

यह सभी को विदित है कि जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन शारीरिक तथा वौद्धिक श्रम एव प्राकृतिक पदार्थों से ही होता है और उन वस्तुओ का उपयोग प्राणियो की सेवा में करना अनिवार्य है। परन्तु जव आवश्यक वस्तुओ के वदले में मानव ऐसी वस्तुओ का सग्रह करने लगता है, जो दीर्घ काल तक सुरक्षित रह सकती हैं और उनके वदले में अन्य वस्तुएँ मिल सकती है, तव समाज में कुछ लोग अधिक सुखी और कुछ लोग अधिक दु खी हो जाते हैं। जव तक मानवता के नाते सुखी-दु खी वर्ग एक-दूसरे से सहयोग रखते हैं तव तक विप्लव दवा रहता है, परन्तु जव श्रम और संग्रह अर्थात् परिश्रम और परिग्रह में परिग्रह का मूल्य वढ़ जाता है और परिश्रम का घट जाता है तव व्यक्ति वस्तु के अधीन हो जाता है। उसका वडा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि परिग्रही शारीरिक तथा वौद्धिक श्रमिको को अपने अधीन कर लेता है। परिग्रह से विलास तथा आलस्य का जन्म होता है, जो विनाश का मूल है। इस दृष्टि से आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन तथा उपयोग प्राणियो की सेवा में ही करना न्याययुक्त है। समाज का वह वर्ग, जो उपार्जन में असमर्थ

है, उसीके निमित्त परिग्रह करना आवश्यक है, चाहे उस पर अधिकार व्यक्तिगत हो अथवा राष्ट्रगत। जब व्यक्तियो में दोष आ जाते हैं तब व्यक्तिगत परिग्रह के विरुद्ध आवाज उठती है, पर राष्ट्रगत परिग्रह के उपयोग की व्यवस्था भी तो व्यक्तियों के द्वारा ही होनी है। राष्ट्र का जन्म किसी भी प्रणाली से हो, परन्तु उसे जनता का ही प्रतिनिधि माना जाता है। जब तक राष्ट्र के कर्मचारियों में यह सद्भावना रहती है कि हम जनता के सेवक हैं तब तक तो व्यवस्था चलती है, किन्तु जब पदलोलु-पता एव सुखासक्ति राष्ट्रगत प्रबन्धको में आ जाती है तब परिग्रह का दुरुपयोग होने लगता है और फिर उस राष्ट्र के अनर्थ से जनता-जनार्दन को बचाना कठिन हो जाता है। व्यक्तिगत परिग्रह में तो परिग्रह का ही बल है, परन्तु राष्ट्रगत परिगह में एक शासन का वैधानिक बल भी है। व्यक्ति के बिगड़ जाने पर कोई भी प्रणाली हितकर सिद्ध नहीं होती। सुन्दर व्यक्तियो का निर्माण सुन्दर व्यक्तियो के ही द्वारा होता है, राष्ट्र के द्वारा नही। परिग्रह-रहित मानव सेवा की सद्भावना तथा प्रेम से पूर्ण एव राग-द्वेषरहित होकर ही सुन्दर मानव का निर्माण कर सकते हैं अर्थात् मानवता के बल से ही सुन्दर मानव होते हैं। परिग्रह एव शासन के बल पर सुन्दर व्यक्तियों का निर्माण सभव नही है। इस दृष्टि से अपरिग्रही मानव का बड़ा महत्त्व है, पर समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे, इससे भी कालान्तर में बड़ा अनर्थ हो सकता है। राष्ट्रगत सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति दोनो ही प्रणालियाँ तभी हितकर सिद्ध होती हैं, जब व्यक्ति सुन्दर हो।

संग्रह का अधिकार उन्हीं लोगो को है, जो अपने लिए सग्रह नही करते। समाज के बालक, समाज की सम्पत्ति और समाज के वे मानव, जिन्होंने जितेन्द्रियता, सेवा तथा सत्य की खोज एव सार्थक चिन्तन का व्रत लिया है, इन्हे एक स्थान पर आ जाना चाहिए अर्थात् सेवक और सेव्य के साथ ही परिग्रह उपयोगी सिद्ध होता है। व्यक्तिगत सुख-भोग के लिए ही परिग्रह के त्याग की बात है। राष्ट्र का आश्रय लेकर सेवा तब सभव होती है, जब राष्ट्र के कर्मचारी सेवक होते हैं। भोगी के

द्वारा सेवा की वात सेवा का उपहास है, और कुछ नही। जिसे व्यक्तिगत मान और भोग की भूख है, भला वह कैसे निष्पक्ष सेवा कर सकता है ? राष्ट्रीयता की भावना भले ही उपयोगी हो, पर शासक होने का प्रलोभन तो सर्वथा अनर्थ का ही मूल है। सत्ता के अभिमान में आवद्ध होने पर राष्ट्रो द्वारा क्या नहीं हुआ, यह विचारणीय प्रश्न है। समाज के कर्णधार वे ही मानव हो सकते हैं, जिन्होंने जीवन-विभाजन किया है और प्राणीमात्र के साथ सर्वात्मभाव अपनाया है। ऐसे मानव ही परिग्रह के अधिकारी हैं। जिस प्रकार उदर शरीर के पोषण के लिए कुछ काल अपने में सग्रह करता है, किन्तु उसका उपयोग अपने ही तक सीमित नही रहने देता, उसी प्रकार उदार मानव ही परिग्रह का सदुपयोग कर परस्पर एकता स्थापित कर सकते हैं। सिद्धान्तत. सम्पत्ति न राष्ट्रगत है, न व्यक्तिगत। सगृहीत सम्पत्ति उन्हीका भाग है, जो रोगी, वालक तथा सेवापरायण है एव सत्य की खोज में रत हैं। अव यदि कोई यह कहे कि राष्ट्रगत सम्पत्ति के विना एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के आक्रमण से कैसे वचेगा, तो इस सवध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जिस समाज में मानव-निर्माण की यथेष्ट व्यवस्था है, उस समाज के प्रत्येक युवक तथा युवती में राष्ट्रीयता स्वत. सुरक्षित रहेगी। देश की सुरक्षा के नाम पर जो अन्धाधुन्ध अर्थ का व्यय होता है, यहाँ तक कि रोगियो के लिए परिचर्या-भवन और वालको के लिए वाल-निकेतन और उनमें सेवा करनेवाले अपरिग्रही सज्जनो के लिए नहीं के समान ही व्यय होता है, उसका परिणाम यह होता है कि युवक और युवतियो के ऊपर वालक, रोगी तथा वृद्धो का भार रहता है। उससे दवे हुए युवक और युवती निर्भीक तथा निश्चिन्त नहीं हो सकते। भय और चिन्ता में आवद्ध मानव में वीरता नही रहती, अपितु कायरता आ जाती है, जिससे राष्ट्रीयता की भावना कुण्ठित हो जाती है, जिसके होने से राष्ट्र निर्वल हो जाता है और फिर ऐसे वल की खोज करता है कि अल्पसख्यक वहु-सख्यक का विनाश कर सकें। इस विनाशकारी भावना का नाश तभी हो सकता है, जव प्रत्येक देश में अपने राष्ट्र के प्रति अविचल आस्था हो,

जीवन में राष्ट्रीयता हो, परन्तु अमानवता की गन्ध भी न हो। शान्त तथा प्रसन्न रहें और दूसरो को रहने दें। कतिपय व्यक्तियों की भूल से समाज की बहुत बडी क्षति होती है। ऐसी दशा में राष्ट्रीयता भले ही समाज को अपेक्षित हो, पर राष्ट्र अपेक्षित नही है। राष्ट्रीयता का वास्तविक अर्थ है, अपने पर अपना अनुशासन। अपने पर अपना अनुशासन करने से निर्दोपता सुरक्षित रहती है। निर्दोप जीवन की मांग सभी को सदैव है। अत निर्दोप मानव ही परिग्रह के अधिकारी हैं।

यह तभी सभव होगा, जब वस्तु-विभाजन के स्थान पर जीवन-विभाजन का निर्णय किया जाय। अर्थात् प्रत्येक मानव सार्वजनिक सेवा के लिए अपने जीवन का विभाजन करे। सार्वजनिक जीवन होने पर ही सर्वहितकारी सद्भावना पोपित होती है। केवल वस्तु-विभाजन मात्र से वस्तु का महत्त्व नही घट जाता, अपितु वस्तुओ की दासता ज्यो की त्यो रहती है। वस्तुओ की दासता में आवद्ध मानव व्यक्तिगत सुख के लिए परिग्रह करने लगता है, जो अवनति का मूल है। जितेन्द्रियता तथा सत्य की खोज एवं सार्थक चिन्तन से युक्त सेवा मे रत मानव की गोद में ही वालक-वालिकाओ का पोषण तथा शिक्षण हो, तभी भावी समाज सुन्दर हो सकता है। मोह की गोद में पले हुए वालक में नैतिकता का विकास नही होता और अर्थ के अधीन पले हुए वालक में हृदयशीलता विकसित नहीं होती, इस कारण समाज के वालको को अर्थ और मोह की गोद में नही पलना चाहिए। मानवता की गोद में पले हुए वालक में ही मानवता विकसित होगी अर्थात् सेवा, त्याग, प्रेमपूर्वक पोपित वालक ही वास्तविक नैतिकता एव हृदयशीलता से युक्त होगे। रोगी-परिचर्या भी उन्हीके द्वारा यथेप्ट होती है, जो सेवा-परायण हैं। वे ही सेवा-परायण मानव, जो सत्य की खोज मे रत है एव राग-रहित हैं, विधान वना सकेंगे और उस विधान का पालन मानव-समाज मे करा सकेंगे। यही वास्तविक राष्ट्रीयता है। विनाशकारी सामान के वल पर राष्ट्रीयता के गीत गानेवाले एक वडे डाकुओ के दल के अतिरिक्त और कुछ नही हैं। वलपूर्वक निर्वल को दवाना और मनमानी करना

क्या राष्ट्रीयता है ? कदापि नहीं। राष्ट्रीयता न्याय की स्थापना है, जो अपने द्वारा अपने प्रति हो सकती है। इस दृष्टि से न्याय किसी अन्य के द्वारा सभव नही है, तो फिर राष्ट्रगत न्यायशाला क्या अर्थ रखती है ? राष्ट्र के रहते हुए भी अन्याय निर्मूल नही हुआ इस सत्य से कोई भी विचारशील अपरिचित नही है। फिर भी राष्ट्र की माँग अनुभव करना और राष्ट्रीयता से विमुख होना क्या व्यक्तिगत मान और भोग के अतिरिक्त कुछ और है ? विचार करें—मान और भोग का पुजारी भला कब निष्पक्ष हो सकता है ? निष्पक्ष वही हो सकता है, जिसे सार्वजनिक हित में ही व्यक्तिगत हित का दर्शन होता है।

यह सभो को विदित है कि प्राकृतिक पदार्थ किसी व्यक्ति, वर्ग, देश की व्यक्तिगत सम्पत्ति नही है। उस पर सभी का स्वत्व है। उन्ही प्राकृतिक पदार्थों से, शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम के सहयोग से, समाज-हितकारी आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन होता है। मूल साधन प्राकृतिक होने के कारण उत्पादन-कर्ताओ पर यह दायित्व है कि वे उत्पादित वस्तुओ में व्यक्तिगत सग्रह की भावना न रखें, अपितु एक देश का उत्पादन दूसरे देश के लिए भा उपयोगी सिद्ध हो। यही वास्तविक वाणिज्य है। वणिक् समाज का उदर है। उदर की भाँति व्यापारी-वर्ग को उदार होना चाहिए। व्यापार की यह नीति कि उत्पादित वस्तु अधिक-से-अधिक महँगी हो जाय और उत्पादन के साधन सस्ते हो जायँ, सर्वथा त्याज्य है। इस नीति ने ही अल्पसख्यक को सुखी और वहुसख्यक को दु खी किया है। उसका परिणाम यह होता है कि परस्पर स्नेह के स्थान पर सघर्ष का जन्म हो जाता है। उत्पादक हृदय माँ जैसा हो। जिस प्रकार माँ सभी छोटे-वडे वालको की आवश्यकता पूरी करती है, उसी प्रकार व्यापारी-वर्ग के हृदय में यह सद्-भावना रहे कि सभी को आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त हो जायँ। इस दृष्टि से व्यापार एक वड़ी ही आवश्यक सेवा है। व्यापारी-वर्ग परस्पर सहकारिता को अपनायें और प्रतियोगिता का त्याग करें। बौद्धिक श्रमी वर्ग यदि अपनी योग्यता का उपयोग सर्वहितकारी कार्य में करे तो शारीरिक श्रमी

एवं पूँजी का सग्रही तो बौद्धिक श्रमी का विरोध कर ही नही सकते। जिस देश, वर्ग, समाज का शिक्षित व्यक्ति स्वार्थपरायण हो जाता है, अर्थात् व्यक्तिगत सुखासक्ति में आबद्ध हो जाता है, वही वर्ग, देश, समाज विनाशोन्मुख होता है। शिक्षित व्यक्तियो के सहयोग के बिना विकास और ह्रास होता ही नही। यदि कोई वर्ग, देश, समाज अवनति की ओर जा रहा है तो यह मानना ही होगा कि शिक्षित-वर्ग मानवता से विमुख हो गया है। शिक्षा एक प्रकार की सामर्थ्य है। सामर्थ्य के आश्रय से ही ह्रास और विकास होता है। सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने पर स्वतः विकास होने लगता है। राष्ट्र और वर्ग के पतन का कारण शिक्षित समाज का पथ-भ्रष्ट होना है। शिक्षित-वर्ग को रागरहित पुरुषो का परामर्श मानना अनिवार्य है, अथवा शिक्षित-वर्ग स्वय रागरहित होने का प्रयास करे तभी सुन्दर समाज का निर्माण हो सकता है। यह सभी को विदित है कि जब बुद्धि विवेकवती नही रहती, तब मन में अशुद्ध सकल्प उत्पन्न होते हैं, जिनके होते ही दुर्गुण, दुराचार आदि दोषो की उत्पत्ति होती है और जब बुद्धि विवेकवती हो जाती है, तब मन निर्विकल्प हो जाता है और इन्द्रियाँ सच्चरित्र हो जाती हैं अर्थात् सद्गुण-सदाचारो की स्वत अभिव्यक्ति होती है। व्यक्तिगत जीवन में जो बुद्धि का स्थान है, वही समाज शिक्षित व्यक्ति का, जो मन का स्थान है, वही राष्ट्र का और जो इन्द्रियो का स्थान है, वही प्रजा का है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि शिक्षित-वर्ग के रागरहित होने से सभी अपने-अपने स्थान पर सुन्दर हो जाते हैं। इस दृष्टि से शिक्षित-वर्ग पर सभी के विकास का दायित्व है।

विधान किसी व्यक्ति की उपज नही है। विधान की खोज वे ही इने-गिने मानव कर पाते हैं, जो रागरहित हैं। रागयुक्त वास्तविकता से अपरिचित रहता है। इस दृष्टि से विधान बनाने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को नही, परन्तु किसी प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित होकर यह मान लेना कि प्रत्येक मानव विधान-सभा का सदस्य हो सकता है, भ्रम-मूलक ही है। यह सभी को विदित है कि विधान का प्रयोग करने के लिए बड़े-बड़े अधिवक्ताओ की अपेक्षा होती है, फिर भी विधान के अर्थ-

निरूपण में भिन्नता होती है, जिससे वास्तविकता का निर्णय ही नही हो पाता। अव विचार यह करना है कि जिस विधान का अर्थ समझने के लिए अधिवक्ताओ की अपेक्षा है, क्या उस विधान को वनाने का अधिकार जन-साधारण को देना उचित है ? कदापि नही। क्या रोगी के रोग का निर्णय वहुमत से होगा अथवा योग्य चिकित्सक से ? विधान मगलकारी तथ्य है। उसका ज्ञाता वही हो सकता है, जो देहाभिमान, पक्षपात, राग, द्वेष आदि विकारो से रहित हो। जनसाधारण को तो विधान का आदरपूर्वक पालन करना है। वे विधायक नही हो सकते। इतना ही नही, किसी राष्ट्र को भी विधायक वनाने का अधिकार नही है, कारण कि राष्ट्र को अपनी भूल का ज्ञान स्वत नही हो सकता। इस दृष्टि से विधान वीतराग पुरुष ही वना सकते हैं। राष्ट्र का निर्वाचन भी जन-साधारण के द्वारा करना राष्ट्र को एकदेशीय वना देना है, जो पक्षपात-रहित हो ही नही सकता। राष्ट्र के निर्वाचन का अधिकार भी उन्ही इने-गिने व्यक्तियो को है, जिन्होंने अपना जीवन समाज-सेवा में अर्पित किया है, पर उन्हे स्वय राष्ट्र होने का अधिकार नही है। सेवा करने-वाला वर्ग राष्ट्र और प्रजा के वीच में स्नेह तथा विश्वास की स्थापना कर सकता है। कारण कि सेवक दोनो के कर्तव्य से परिचित होता है। उसके हृदय में दोनो ही के प्रति सद्भावना रहती है। ऐसा न करने से राष्ट्र और प्रजा के वीच में सदैव संघर्ष होता रहता है और राष्ट्र की शक्ति का वहुत वड़ा भाग अपनी सुरक्षा में व्यय होता है, प्रजा के हित में नही। इस कारण राष्ट्र का निर्वाचन वहुमत के आधार पर न किया जाय, अपितु देश के वे इने-गिने व्यक्ति, जो सेवा-परायण हैं, राष्ट्र का निर्वाचन करें और उन सेवा-परायण महानुभावो में जो वीतराग हैं वे विधान वनायें। अव यदि कोई यह कहे कि हम वीतराग को कैसे जानें ? इस सवन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार से यह स्पष्ट विदित होता है कि सत्-पथ पर अग्रसर मानव स्वय प्रकाशित हो जाता है। क्या महत् पुरुषो को किसी निर्वाचन से स्वीकार किया जाता है ? कदापि नही। विकसित मानव स्वय अपने प्रकाशन में आप समर्थ होता है। क्या समय-समय पर

पद्धतियो का निर्माण बहुमत से हुआ है ? बहुमत ने उनका स्वागत किया है, उसका निर्वाचन नही। प्रत्येक काल में, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक देश तथा समाज में यह अपने-आप प्रकट हो जाता है कि जन-समाज को किसके पथ-प्रदर्शन में रहना है। अत वीतराग पुरुषो का निर्वाचन किसी अन्त्र के द्वारा सम्भव नही है। सेवा और प्रीति से युक्त मानव उस विधान से अभिन्न होता है, जो मगलमय है, पर जब तक मानव को यह भासित होता है कि मुझमें सेवा तथा प्रीति है, तब तक वास्तविक विधान से अभिन्न नही होता। जब सेवा और प्रीति तो रहे, पर उसमें अहभाव की गन्ध भी न रहे, तब अनन्त के मगल विधान से अभिन्नता होती है। अत जो विधान अनन्त के मगलमय विधान से अनुप्राणित नही है, वह विधान सर्वहितकारी नही हो सकता। विधान की खोज करना है, विधान किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत उपज नही है। विधान की खोज प्रत्येक मानव कर सकता है, पर उसके लिए सर्वात्म-भाव स्वीकार करना, अह और मम से रहित होना अनिवार्य है। जिसे विधायक होना हो वह विधान से अभिन्न होने के लिए प्रयास करे। सभी विधायक हो सकते हैं, यह बात इसी अर्थ में स्वीकार की जा सकती है कि राग-रहित होने का दायित्व मानव-मात्र पर है। अत प्रत्येक मानव अपने को इतना सुन्दर बनाये कि उसका जीवन विधान हो जाय। जीवन और विधान की एकता होने पर किसी प्रकार की सुखलोलुपता नही रहती, अपितु उसका जीवन सेवा, प्रेम एव निरभिमानता से युक्त होता है। जिसमें निरभिमानता आ जाती है, वह सभी से अभिन्न हो जाता है और तभी उसके जीवन में सर्वहितकारी विधान की अभिव्यक्ति होती है। वास्तविक विधान की अभिव्यक्ति तो सृष्टि से पूर्व ही होनी चाहिए, कारण कि समष्टि-शक्ति विधानरहित कार्य करती है, पर विधान किसी मानव का बनाया हुआ नही है। उसी अनन्त के विधान का प्रतीक मानव मे निज विवेक है। निज विवेक का आदर करने पर कर्तव्य, निज-स्वरूप और अनन्त की स्मृति स्वत जाग्रत होती है। अत विवेकवित् मानव ही विधान की खोज कर सकते है और विवेकवित् होने का दायित्व प्रत्येक मानव पर है। ●

शिक्षा और दीक्षा : ६ :

शिक्षा मानव-जीवन में सौन्दर्य प्रदान करती है, कारण कि शिक्षित व्यक्ति की माँग समाज को सदैव रहती है। इस दृष्टि से शिक्षा एक प्रकार की सामर्थ्य है। यद्यपि सामर्थ्य सभी को स्वभाव से प्रिय है, पर उसका दुरुपयोग मगलकारी नही है। अत शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान प्रचलित प्रथा में दीक्षा का अर्थ किसी मत, सम्प्रदाय आदि को अपना लेना है। पर वास्तव में दीक्षा का अर्थ मानव-जीवन के चरम लक्ष्य के अनुभव का निर्णय करना है। शिक्षा का सदुपयोग दीक्षा से ही सभव है। सामर्थ्य में वह चेतना नही होती, जिससे उसका मानव दुरुपयोग न करें। अत. सामर्थ्य के सदुपयोग के लिए प्रकाश दीक्षा से ही मिलता है। दीक्षित मानव की प्रत्येक चेष्टा लक्ष्य की प्राप्ति में ही निहित है। शिक्षा अर्थात् ज्ञान, विज्ञान एव कलाओ के द्वारा जो शक्ति प्राप्त हुई है उसका दुरुपयोग न हो, इसके लिए शिक्षित मानव का दीक्षित होना अनिवार्य है।

शिक्षा का सम्पादन सामूहिक शक्तियो के सहयोग से ही सभव है। शिक्षित होने के लिए समाज के विभिन्न भागो का सहयोग आवश्यक होता है। कोई भी मानव दूसरो के सहयोग के बिना शिक्षित नही हो सकता, इस दृष्टि से शिक्षारूपी सामर्थ्य सामूहिक सम्पत्ति है, व्यक्तिगत नही। सामूहिक सम्पत्ति का सदुपयोग सर्वहितकारी सद्भावना से ही करना उचित है। पर यह तभी सभव होगा, जब मानव दीक्षित हो जाय। दीक्षित होने के लिए जीवन का अध्ययन अनिवार्य होगा। मानव जीवन कामना और माँग का पुन्ज है। कामना मानव को पराधीनता, जड़ता एव अभाव की ओर गतिशील करती है और माँग स्वाधीनता, चिन्मयता

एव पूर्णता की ओर अग्रसर करती है। माँग की पूर्ति एव कामनाओ की निवृत्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। मानवमात्र का लक्ष्य एक है। इस कारण दीक्षा भी एक है। दीक्षा के दो मुख्य अग हैं—दायित्व और माँग। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व पूरा करने पर माँग की पूर्ति स्वत. होती है। दायित्व पूरा करने का अविचल निर्णय तथा माँग की पूर्ति में अविचल आस्था रखना ही दीक्षा है। यह दीक्षा प्रत्येक वर्ग, समाज, देश, मत, सम्प्रदाय, मजहव, इज्म आदि के मानव के लिए समान रूप से आवश्यक है। इस दीक्षा के विना कोई भी मानव मानव नही हो सकता और मानव विना हुए जीवन अपने लिए, जगत् के लिए और उसके लिए, जो सर्व का आधार तथा प्रकाशक है, उपयोगी नही हो सकता।

शिक्षा में प्राप्त सौन्दर्य से मानव दायित्व को पूरा करता है। पर विचार यह करना है कि दायित्व क्या है। दायित्व तव वह नही हो सकता, जिसे पूरा करने में मानव असमर्थता अनुभव करे और वह भी दायित्व नही है कि जिसके पूरा करने में माँग की पूर्ति न हो। जिस पर जो दायित्व है, वह उससे अपरिचित नही है, उसको विस्मृति भले ही हो गयी हो। दायित्व का ज्ञान प्राकृतिक नियमानुसार मानव-मात्र में विद्यमान है। उसकी विस्मृति किसी न किसी असावधानी से हो जाती है, पर माँग की पूर्ति में अविचल आस्था होने से माँग की उत्कट लालसा जाग्रत होती है, जो दायित्व की स्मृति जगाने में और भूल के मिटाने में समर्थ है। इस दृष्टि से अपने पर क्या दायित्व है, इस पर मानव को स्वय विचार करना है। जाने हुए दायित्व का समर्थन मात्र महत् पुरुषो से ही होता है और उसीका नाम दीक्षा है। शिक्षा सामर्थ्य है और दीक्षा प्रकाश। सामर्थ्य का उपयोग अन्धकार में करना अपने विनाश का आह्वान करना है। शिक्षा का प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि पर होता है और दीक्षा का प्रभाव अपने पर होता है अर्थात् कर्ता पर होता है, करण पर नही। करण कर्ता के अधीन कार्य करते हैं। अत शिक्षा का उपयोग दीक्षा के अधीन होना चाहिए। किसी भी मानव को यह अभीष्ट नही है कि सवल उसका विनाश करें, अत. वल का दुरुपयोग न करने का व्रत कर्तव्य-

पथ की दीक्षा है। जिस मानव ने यह अविचल निर्णय कर लिया कि किसी भी परिस्थिति में बल का दुरुपयोग नही करना है, उसमें स्वत कर्तव्य की स्मृति उदित होगी, यह दीक्षा की महिमा है। कर्तव्य की स्मृति और उसके पालन की सामर्थ्यं स्वत कर्ता में अभिव्यक्त होती है। यह प्राकृतिक विधान है। अतएव कर्तव्य-पालन में असमर्थता तथा परतत्रता नही है, यह निर्विवाद सिद्ध है। जो नही कर सकते, क्या यह भी किसीका कर्तव्य हो सकता है? अथवा जो नही करना चाहिए, क्या वह भी किसीका कर्तव्य हो सकता है? कदापि नही। सामर्थ्यं तथा विवेक-विरोधी कार्य न करने का निर्णय कर्तव्य-परायणता के लिए अनिवार्य है। इस दृष्टि से कर्तव्य-पथ पर चलने के लिए दीक्षा अनिवार्य है। यह दीक्षा कोई मानव निज विवेक के प्रकाश से अथवा किसी कर्तव्यनिष्ठ मानव से अपनाये, यह उसकी अपनी स्वाधीनता है, पर दीक्षित न होना भारी भूल है। यद्यपि शिक्षा वड़े ही महत्त्व की वस्तु है, पर दीक्षित विना हुए शिक्षा के द्वारा और अनर्थ भी हो जाते है। अशिक्षित मानव से उतनी क्षति नही हो सकती, जितनी कि दीक्षित मानव से होती है। शिक्षित मानव का समाज मे वहुत वडा स्थान है। कारण कि उसके सहयोग की माँग समाज को सदैव रहती है। इस दृष्टि से शिक्षित का दीक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। कर्तव्य-परायणता पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओ के हल करने में समर्थ है। कर्तव्यनिष्ठ मानव के द्वारा ही सुन्दर समाज का निर्माण होता है और फिर वह स्वत· योग-विज्ञान में प्रवेश पाता है, जो विकास का मूल है। कर्तव्य का सवध पर के प्रति है और योग स्वय के लिए उपयोगी है। कर्तव्य की पूर्णता स्वत मानव को योगवित् कर देती है, जो अपने लिए उपयोगी है अर्थात् योगवित् होने पर आवश्यक सामर्थ्यं की अभिव्यक्ति होती है। कर्तव्य-पालन में प्राप्त सामर्थ्यं का सद्व्यय होता है, जो सुन्दर समाज के निर्माण में हेतु है।

यह सभी को विदित है कि कर्तव्य का आरम्भ तथा अन्त होता है। जिसका आरम्भ और अन्त है, वह नित्य नही है, किन्तु कर्तव्य का परिणाम कर्ता को रागरहित करने मे उपयोगी है। रागरहित भूमि में जव

योगरूपी वृक्ष उगता है, तब मानव अपने उस दायित्व को पूरा करने में समर्थ होता है, जो उसे पराधीनता से रहित करने में समर्थ है अर्थात् रागरहित होने पर ही वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से असंगता प्राप्त होती है, जो विचार-पथ की दीक्षा है। यह दीक्षा भी मानव जाने हुए असत् के त्याग से प्राप्त कर सकता है, जो सभी विचारशील महत् पुरुषों में समर्थित भी है। कर्तव्य-परायणता सुन्दर समाज के निर्माण में और असंगता स्वाधीनता की प्राप्ति में समर्थ है, पर जिसकी अहेतुकी कृपा से कर्तव्य-पालन के लिए मूल सामग्री तथा कर्तव्य की स्मृति के लिए विवेकरूपी प्रकाश मिला, उसमें अविचल आस्था करना विश्वास-पथ की दीक्षा है। आस्था स्वत श्रद्धा तथा विश्वास के रूप में परिणत होती है, जिससे मानव उसमें आत्मीयता स्वीकार करता है, जिसे जानता नही है। आत्मीयता अखण्ड स्मृति प्रदान करती है, जो प्राप्ति तथा अगाधप्रियता की जननी है। विश्वासपात्र की दीक्षा विश्वासी को विश्वासपात्र से अभिन्न कर देती है। कर्तव्य-परायणता से सुन्दर समाज का निर्माण, असंगता से स्वाधीनता की प्राप्ति और आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागति से प्रेम की जाग्रति होती है। कर्तव्य-परायणता परमशान्ति से, असंगता स्वाधीनता से एवं शरणागति अगाधप्रियता से मानव को अभिन्न करती है। इस दृष्टि से शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। किस मानव को आरम्भ में कैसी दीक्षा लेनी है, यह उसकी रुचि, योग्यता एवं सामर्थ्य पर निर्भर है, यद्यपि प्राकृतिक विधान के अनुसार मानव-मात्र की माँग एक है और उसी माँग को शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम के स्वरूप में वरण किया है। शान्ति सामर्थ्य की, स्वाधीनता चिन्मयता की और प्रेम अनन्त रस का स्रोत है। सामर्थ्य, चिन्मयता एवं रस से परिपूर्ण जीवन की माँग मानव-मात्र की अपनी माँग है। दायित्व पूरा करने पर माँग स्वत पूरी होती है, यह विधान है। इस दृष्टि से शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा अनिवार्य है। दीक्षा के बिना माँग, अर्थात् लक्ष्य क्या है और उसकी प्राप्ति के लिए दायित्व क्या है, इसका विकल्परहित निर्णय सम्भव नही है, जिसके बिना सर्वतोमुखी विकास सम्भव नही है। दीक्षा का बाह्य रूप भले ही भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत हो,

किन्तु उसका आन्तरिक स्वरूप तो कर्तव्य-परायणता, असगता एवं शरणागति में ही निहित है। इतना ही नही, कर्तव्य की पूर्णता में अमंगता और असंगता की परावधि में शरणागति स्वत आ जाती है। कर्तव्य-परायणता के विना स्वार्थ-भाव का, असगता के विना जडता का और शरणागति के विना सीमित अहभाद का सर्वांश में नाश नही होता। स्वार्थभाव ने ही मानव को सेवा से और जडता ने ही मानव को चिन्मय जीवन से एव सीमित अहभाव ने ही प्रेम से विमुख किया है, जो विनाश का मूल है। स्वार्थभाव, जड़ता एव सीमित अहभाव का नाश दीक्षा में ही निहित है।

व्यक्तित्व की सुन्दरता में शिक्षित होने के लिए मानव को शिक्षकों की अपेक्षा होती है, पर व्यक्तित्व के मोह के नाश में दीक्षित होने के लिए मानव को अपनी ओर देखना होता है। अपनी ओर देखने पर ही अपने दायित्व और माँग का वोध होता है। दीक्षा की पाठशाला एकान्त और पाठ मौन है। शिक्षा अनन्त मे प्राप्त सौन्दर्य है और दीक्षा अनन्त का प्रकाश। सौन्दर्य का सद्व्यय प्रकाश से ही सभव है। शिक्षा मानव को उपयोगी वनाती है और दीक्षा सभी के ऋण से मुक्त करती है—ऋण से मुक्त हुए विना शान्ति, स्वाधीनता तथा प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश नही होता, जो वास्तविक जीवन है।

चरित्र-निर्माण : ७ :

चरित्र-निर्माण मानव-जीवन मे एक महान् वल है। उसकी आवश्यकता मानव-मात्र को है। इसके विना मानव मानव नही हो सकता। वीतराग होने में ही चरित्र-निर्माण की पराकाष्ठा है और वीतराग होने में ही पूर्ण मानवता का विकास है। चरित्र-निर्माण में ही अपना कल्याण तथा समाज का हित निहित है। इस दृष्टि से चरित्र-निर्माण जीवन का आवश्यक अग है।

चरित्र-निर्माण वास्तव में अन्त-प्रेरणा है, क्योकि किसीको भी चरित्रहीन की आवश्यकता नही है। इस दृष्टि से समाज को एकमात्र चरित्रवान् व्यक्ति की ही आवश्यकता है। इतना ही नही, अपनी निर्बल-ताएँ मिटाने में भी सच्चरित्रता ही समर्थ है।

चरित्र को सुरक्षित रखने के लिए सब कुछ न्योछावर किया जा सकता है, किन्तु चरित्र किसीके बदले में नही दिया जा सकता। अत चरित्र का महत्त्व शरीरादि सभी वस्तुओ से अधिक है। चरित्र-निर्माण करने में जितेन्द्रियता अत्यन्त अनिवार्य है, क्योकि इन्द्रियलोलुपता के कारण ही हम चरित्रहीन हो जाते हैं। भुक्त इच्छाओ के रस की स्मृति और अभुक्त इच्छाओ की आशा ही इन्द्रियलोलुपता को पुष्ट करती है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन में उत्पन्न हुई नीरसता को दबाने तथा भुलाने के लिए प्राणी इन्द्रिय-लोलुपता का आश्रय लेता है, यद्यपि नीरसता मिटाने के लिए नित-नव रस की आवश्यकता है, चरित्रहीनता की नहीं। नित नव रस की प्राप्ति प्रीति से होती है, किसी सुख-भोग से नही। प्रीति की उत्पत्ति अचाह से होती है, किसी राग से नही। अचाह-पद की प्राप्ति विवेक से होती है, जो मानवमात्र में विद्यमान है।

उस विद्यमान विवेक के प्रकाश में ही हमें अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति देखना है। ऐसा करने से हमें अपनी निर्बलताओ का तथा अपने बनाये हुए दोषो का ज्ञान हो जायगा। अपनी निर्बलता का ज्ञान वेदना जाग्रत करने में समर्थ है। यदि उस वेदना को पर-दोष-दर्शन से दबाया न जाय, तो वेदना स्वत सभी दोषो को भस्मीभूत कर निर्दोषता की स्थापना में समर्थ हो जाती है और फिर निर्दोषता दोषो को उत्पन्न नही होने देती। इस दृष्टि से वेदना और दोषों का न दोहराना ही निर्दोष बनाने का मुख्य हेतु है।

वेदना और दु ख में अन्तर है। वेदना अभाव मिटाने की पीडा है, अथवा यो कहो कि वेदना मानव की वास्तविक भूख है। दु ख के दो रूप हैं, एक तो सुख-भोग की आशा और दूसरा, सब प्रकार के अभाव का अभाव करने की अभिलाषा। दु ख का बाह्य रूप पूर्ण दु ख नही

है। दु ख का आन्तरिक रूप जो वेदना के रूप में जाग्रत होता है, मानव के विकास की भूमि है। यह भूमि सुरक्षित तभी रह सकती है, जब हम अपने लक्ष्य से निराश न हो।

वेदना जाग्रत होने पर एक आन्तरिक गहरी माँग उत्पन्न होती है, जो वास्तव में प्रार्थना पर उस अनन्त को भले ही न माने अथवा न जाने, तो भी वह अनन्त अपनी अहेतुकी कृपा से प्रार्थी की प्रार्थना की पूर्ति कर देता है, किन्तु अपने को प्रकट नही करता। यह उस अनन्त की महिमा है, और कुछ नही। यदि प्राणी व्यथित हृदय से उन्हें पुकारे, तो उसे सब कुछ मिल सकता है। इस दृष्टि से अपने को निर्दोष बनाने में प्रार्थना का मुख्य स्थान है। वह प्रार्थना सजीव तभी होती है, जब कोई भूल को न दोहराकर प्रायश्चित्तपूर्वक प्रार्थना की जाय। यदि किसीका प्रार्थना पर विश्वास न भी हो, तो कहना होगा कि जिस प्रकार प्यास का लगना ही पानी का मांगना है, उसी प्रकार अभाव की वेदना ही प्रार्थना है। प्रार्थना का अर्थ दीनता तथा पराधीनता नही है, प्रत्युत अपनी वास्तविक आवश्यकता की जाग्रति है, अथवा यो कहो कि जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उसकी प्रीति है।

चरित्र-निर्माण के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि हम विवेक तथा न्याय का प्रयोग अपने पर तथा विश्वास, क्षमा और प्रेम का उपयोग दूसरो पर करें। विवेक से दोष का ज्ञान होगा और न्याय से निर्दोषता की स्थापना होगी। न्याय वही सार्थक होता है, जो अपने पर किया जाय। न्याय का अर्थ दण्ड देना नही, अपितु सुधार करना है। अत अपना सुधार करना ही अपने प्रति न्याय करना है। ज्यो-ज्यो अपना सुधार होता जाता है, त्यो-त्यो न्याय प्रेम में, क्रोध क्षमा में, अविश्वास विश्वास में, वैर-भाव निर्वैरता में और भिन्नता एकता में बदलते जाते हैं। जो अपने प्रति न्याय नही करता, वह दूसरो के प्रति प्रेम नही कर सकता। प्रेम को विकसित करने के लिए अपने प्रति न्याय करना अनिवार्य है। वास्तविक न्याय करने के लिए यह आवश्यक है कि दोष का यथार्थ ज्ञान हो। जितना ज्ञान हमें अपने दोष का होता है, उतना अन्य के दोष

का नही। इससे यह सिद्ध होता है कि वास्तविक न्याय अपने पर ही किया जा सकता है, दूसरो पर नही। दूसरो से तो प्रेम किया जा सकता है, अथवा दूसरो को क्षमा किया जा सकता है। क्षमा और प्रेम निर्वैरता और अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। निर्वैरता हमें निर्भय वना देती है और अभिन्नता नीरसता का अन्त कर सरस वना देती है, जो सभी को अभीष्ट है।

चरित्र-निर्माण के लिए हमें इन्द्रिय-लोलुपता को जितेन्द्रियता में, स्वार्थ-भाव को सेवा में, विपय-चिन्तन को भगवच्चिन्तन में परिवर्तन करना तथा असत् जानकर सत् की खोज करना अनिवार्य हो जाता है। यह नियम है कि सत् की खोज असत् को खाकर सत् से अभिन्न कर देती है। सत् स्वय तो असत् का प्रकाशक है, विनाशक नही, किन्तु सत् की खोज असत् की विनाशक है। इस दृष्टि से सत् की खोज ही सत् के अभिलापी को सत् से अभिन्न कर देती है। परन्तु व्यय चिन्तन की आसक्ति सत् की खोज जाग्रत नही होने देती। सत् की खोज जाग्रत करने के लिए व्यर्थ चिन्तन को सार्थक चिन्तन में अर्थात् वस्तु आदि के चिन्तन को भगवच्चिन्तन में वदलना अनिवार्य होगा। व्यर्थ चिन्तन को सार्थक चिन्तन मे परिवर्तन करने के लिए स्वार्थ-भाव तथा इन्द्रिय-लोलुपता को सेवा-भाव तथा जितेन्द्रियता में वदलना होगा।

अपने निर्माण को सुरक्षित रखने के लिए अक्रोध, हृदयशीलता एव निरभिमानता अत्यन्त आवश्यक है। क्रोध-रहित होने के लिए यह अनिवार्य होगा कि हम दूसरो के कर्तव्य को अपना अधिकार न मानें, क्योकि यदि किसीके कर्तव्य को अपना अधिकार मानने लगें तो उसकी पूर्ति में राग तथा अपूर्ति में क्रोध उत्पन्न होगा। क्रोध सभी दिव्य गुणो को भस्मीभूत कर देता है। अत क्रोधरहित होने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि हम किसीके कर्तव्य को अपना अधिकार न मानें। हृदयशील रहने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि अपने प्रति होनेवाली उदारता को अपना गुण न मानें, अपितु जिसने उदारता की है, उसकी महानता जानें। ऐसा करने से हृदयशीलता सुरक्षित रहेगी। हृदयशीलता सुरक्षित रहने

से परस्पर स्नेह की वृद्धि होगी, जो विकास का मूल है। वह विकास तभी सुरक्षित रह सकेगा, जब किसीकी निर्बलता को अपना बल न मान लिया जाय। जब हम प्रमादवश किसीकी निर्बलता को अपना बल मान लेते हैं, तब अभिमान में आबद्ध हो जाते हैं, जो ह्रास का मूल है।

अपने निर्माण के लिए कर्म-शुद्धि का जीवन में मुख्य स्थान है। पर वह तब सभव होगा, जब हमारी सभी प्रवृत्तियाँ तथा सम्बन्ध शुद्ध भाव से भावित हो, अर्थात् हम सभी को अपना कुटुम्ब जानें। इतना ही नही, कर्म-भेद होने पर भी प्रीति का भेद न हो। कर्म की भिन्नता तो अनिवार्य है, क्योकि योग्यता तथा मान्यता का भेद है। परन्तु स्नेह की भिन्नता महान् दोष है। उसका अन्त किये बिना सच्चरित्रता सभव नही है। स्नेह की भिन्नता मिटाने के लिए सभी के प्रति परिवार के समान ही सद्भाव रखना तथा सम्बोधन करना होगा। यह सभी को मान्य होगा कि भाव के अनुरूप ही प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति के अनुरूप ही कर्ता का स्वरूप हो जाता है, अर्थात् जीवन पवित्रता से परिपूर्ण हो जाता है। अत बाह्य भेद होने पर भी आन्तरिक एकता सुरक्षित रखना चरित्रवान् होने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

यह सभी को मान्य होगा कि सच्चरित्रता सुरक्षित रखने के लिए हृदय सर्वदा असीम स्नेह से भरा रहे। यह तभी सभव होगा, जब हम अपने निकटवर्तियो की क्रियात्मक रूप से यथाशक्ति सेवा करने के लिए सर्वदा उद्यत रहे, कारण कि सेवा स्वार्थ को खाकर स्नेह की वृद्धि करने में समर्थ है। अत स्नेह को सुदृढ तथा विभु करने के लिए प्राप्त सुख का सद्व्यय निर्मोहतापूर्वक कर्तव्य-बुद्धि से करते रहना चाहिए, जो वास्तव में सेवा है।

सेवा करने की योग्यता तभी आती है, जब हम स्वावलम्बी हो और स्वावलम्बी वे ही हो सकते हैं, जो मानसिक तथा सामाजिक हित की भावना से परिपूर्ण हो। सुख और हित में बडा भेद है। सुख की आसक्ति हमें पराधीन तथा निर्बल बनाती है और हित हमें स्वाधीन तथा सबल बनाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्रवृत्ति से सच्चरित्रता स्वत आ जाती

है, कारण कि सुख हमें आलस्य तथा विलास की ओर और हित हमें श्रम तथा सयम की ओर गतिशील करता है। सुख से दु ख दब जाता है और हित से दु ख मिट जाता है। दु ख मिटाना सभी को अभीष्ट है। अत सुखलोलुपता को त्याग सर्वहितकारी भावना से प्रत्येक प्रवृत्ति करनी चाहिए, जो चरित्र-निर्माण के लिए महामन्त्र है।

अपने को सुन्दर बनाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि शरीर श्रमी हो, कारण कि शरीर के श्रमी होने से आवश्यक कार्य पूरे हो जाते हैं और अनावश्यक कार्य मिट जाते हैं। अनावश्यक कार्य मिटते ही मन सयमी हो जाता है, मन के सयमी होने पर बुरे सकल्प मिट जाते हैं और भले सकल्प पूरे हो जाते हैं। ज्यो-ज्यो सयम सबल तथा स्थायी होता जाता है, त्यो-त्यो शुद्ध सकल्पो की पूर्ति का सुख मिटता जाता है। सकल्प-पूर्ति का सुख मिटते ही निर्विकल्पता आ जाती है। मन के निर्विकल्प होने पर स्वत विचार का उदय होता है और फिर बुद्धि विवेकवती हो जाती है। विवेकवती बुद्धि वासनाओ के मिटाने में समर्थ है। वासनाओ के मिटते ही हृदय अनुरागी हो जाता है। यह नियम है कि अनुराग अहंभाव को अभिमानशून्य कर देता है, क्योंकि अनुराग का प्रादुर्भाव होते ही किसी प्रकार की चाह शेष नही रहती। अचाह हो जाने पर अहभाव स्वत गल जाता है। अहभाव के गलते ही जीवन अनन्त नित्य सौन्दर्य से परिपूर्ण हो जाता है। इस दृष्टि से शरीर श्रमी, मन सयमी, बुद्धि विवेकवती और हृदय अनुरागी एव अहं अभिमानशून्य करना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है।

अपनी सुन्दरता सुरक्षित रखने के लिए यह सभी को मान्य होगा कि सत्य को जीवन में सभी से उत्कृष्ट स्थान दिया जाय। यह तभी सभव होगा, जब हम अपने को सिक्के की दासता से मुक्त कर सकें। सिक्के की दासता ने ही आलस्य, विलास तथा अभिमान को जन्म दिया है, जिससे चरित्र-हीनता के अतिरिक्त और कुछ नही मिला, जो सुन्दरता को सुरक्षित नहीं रहने देती। यद्यपि सिक्के का जीवन में कोई विशेष मूल्य नही है, यह केवल आदान-प्रदान का साधन, अर्थात् माध्यममात्र

है। इस दृष्टि से सिक्का वस्तु-उत्पादन का साधनमात्र है, और कुछ नही। वस्तु का उत्पादन सिक्के को सग्रह करने के लिए नही है, प्रत्युत व्यक्तियो की रक्षा के लिए है और व्यक्ति का जीवन विवेकपूर्वक सत्य को प्राप्त करने के लिए है, कारण कि इस असत् का त्याग और सत् की प्राप्ति ही मानव का उद्देश्य है, इसी दृष्टि से सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक एव विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है, जो चरित्र-निर्माण में हेतु है। इतना ही नही, सच्चरित्र होने के लिए व्यर्थ चिन्तन का त्याग एव वर्तमान का सदुपयोग करना अत्यन्त अनिवार्य है। वर्तमान के सदुपयोग का अर्थ है, सुख-दु ख का सदुपयोग और व्यर्थ चिन्तन के त्याग का अर्थ है, सार्थक चिन्तन अर्थात् तत्त्व-चिन्तन एवं भगवच्चिन्तन का उदय होना। सुख का सदुपयोग उदारता और दु ख का सदुपयोग विरक्ति है। उदारता आ जाने पर प्राणी सुख-भोग के बन्धन से मुक्त हो जाता है और विरक्ति आ जाने पर आत्मानुरक्ति अथवा परम प्रेम की जागृति स्वत होती है, जिसके होने से जीवन अनन्त नित्य सौन्दर्य से सम्पन्न हो जाता है, अथवा यों कहो कि सब प्रकार के अभावो का अभाव होकर पूर्ण हो जाता है, अथवा कहो कि जीवन जड़ता, पराधीनता, शक्तिहीनता आदि दोषो से रहित होकर अनन्त-नित्य चिन्मय परम तत्त्व से अभिन्न हो जाता है, जो मानव का उद्देश्य है। अत चरित्र-निर्माण करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योकि चरित्र-निर्माण के लिए ही मानव-जीवन मिला है।

सुख-दु ख का सदुपयोग साधन का मूल है। वह तभी सभव होगा, जब सुख-दु ख को जीवन न मानकर उसे साधन-सामग्री जान लिया जाय। मानव-जीवन में सुख-दु ख के उपभोग का कोई स्थान ही नही है, कारण कि सुख-दु ख तो पशु-पक्षी आदि भी भोगते हैं। मानव-जीवन तो सुख-दु.ख के बन्धन से मुक्त होकर पवित्र प्रेम तथा अमर-जीवन की प्राप्ति के लिए मिला है। वास्तव में ऐसा साधनयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। ●

वास्तविक राष्ट्र-निर्माण : ८ :

प्रश्न क्या समाजवाद या पूंजी के विभाजन से भारत की समस्या हल हो जायगी ?

उत्तर केवल पूंजी के विभाजन से परिस्थिति तो सँभल जायगी, परन्तु व्यक्तियो का निर्माण न होगा। व्यक्तियो के निर्माण के विना अनुकूल परिस्थिति भी हितकर नही होती। जिस प्रकार पागल का स्वस्थ शरीर भी कुछ काम नही आता, वही दशा धर्मशून्य साम्यवाद की होगी।

प्रश्न क्या धर्मयुक्त भी साम्यवाद है ? समाजवादी नेता तो कहते हैं कि धर्म के गीत गानेवालो ने मानव-समाज को अत्यन्त दुःखी कर दिया है।

उत्तर . धर्म का वास्तविक स्वरूप न जानने के कारण वे लोग ऐसा सोचते हैं, धर्म का मूलमन्त्र केवल दो वार्ते सिखाता है—किसीके ऋणी बनकर मत रहो और प्रत्येक कार्य विश्व के नाते अथवा भगवत् नाते करते रहो।

प्रश्न : किसीके ऋणी न रहने का अर्थ क्या है ?

उत्तर ' तुम अपने जीवन का अध्ययन करो। जव तुम वच्चे थे, तव तुम्हारा किसीने पालन-पोषण किया ही था। जब तुम बीमार होते हो, तव कोई न कोई सेवा करता ही है। जव तुम अबोध थे, तव तुमको किसी न किसीने शिक्षित तो किया ही था।

प्रश्न ' आपकी मूकभाषा मेरी समझ में नहीं आती है, कृपया स्पष्ट कर दीजिये।

उत्तर : देखो प्यारे, प्रत्येक व्यक्ति पालन करनेवाले का और सेवा तथा शिक्षा देनेवाले का ऋणी है।

प्रश्न ' तव फिर मुझे ऋण से मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर : तुम एक बाल-मन्दिर खोलो और सपत्नीक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर देश के बच्चो की देखभाल करो। माँ-बाप की गोद में बच्चो का वास्तविक विकास सम्भव नही है, क्योकि माँ-बाप से प्यार तो मिलता है, किन्तु न्याय नही, और नौकरो के द्वारा न्याय मिलता है, प्यार नही। बालक का यथेष्ट विकास तभी सम्भव है, जब उसका पालन प्यार तथा न्यायपूर्वक किया जाय।

जब तुम समाज के बालक-बालिकाओ का अपने शिशु की भाँति पालन करोगे तो तुम पालन करनेवाले के ऋण से मुक्त हो जाओगे और तुम्हारी न्याय तथा प्यारपूर्वक की हुई सेवा से बालको का भी विकास होगा। इतना ही नही, तुम्हारे मन से स्वार्थभाव भी मिट जायगा, जिससे तुमको जितेन्द्रियता प्राप्त होगी। जितेन्द्रियता प्राप्त होने पर तुम अपनी योग्यतानुसार सत्य की खोज कर सकोगे जिससे तुम्हारा भी विकास होगा। केवल वस्तुओ के आधार पर जीवन व्यतीत करना मनुष्य के स्वरूप में पशुता है। वस्तुओ से अतीत जो तत्त्व है, उसको प्राप्त करने पर ही तुम सभी स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकोगे। जिस समाज में स्वतन्त्र व्यक्तियो का निर्माण नही होता, उसका विकास सीमित ही होता है।

प्रश्न : क्या यह कार्य राष्ट्र का नही है ?

उत्तर : यह कार्य कभी कोई राष्ट्र नही कर पाया, क्योकि नौकर के द्वारा सेवा नही हो सकती। जो बेचारा स्वय उपभोग में ग्रसित है, वह सेवा नही कर सकता। सेवा वही कर सकता है, जिसका जीवन भिक्षा के आधार पर निर्भर हो, और जो अर्थ और काम की वासनाओ से मुक्त हो। न्यायदृष्टि से सग्रह की हुई सम्पत्ति पर केवल तीन प्रकार के प्राणियो का अधिकार है : बालक, रोगी तथा विरक्त का। बालक और रोगी अर्थोपार्जन में असमर्थ हैं और सेवक को अर्थोपार्जन के लिए अवसर नही है। इतना ही नहीं, उपार्जित अर्थ के आधार पर रहनेवाला मनुष्य समाज से अभिन्न तथा निरभिमानी नही हो पाता है। अभिन्नता के बिना

सच्चे समाजवादी नही बन सकते और निरभिमानता के विना छिपी हुई नवीन शक्ति का विकास नही हो पाता। यह निर्विवाद सिद्ध है।

वर्तमान सुधारवादी तो किसी एक पार्टी के प्रतिनिधि वनकर द्वेष तथा स्वार्थ के आधार पर सगठन वना, पशु-वल को उपार्जित कर किसी-के विनाश से किसीके विकास की वात कहते हैं। वे वेचारे इस प्राकृतिक विधान को नही जानते कि जिसका जन्म ही विनाश से होगा, भला उसका परिणाम विकास कैसे हो सकता है? अभी वे ऊपर से तो स्वतन्त्र हो गये हैं, किन्तु भीतर से पश्चिमी सभ्यता मे आवद्ध हैं, उन्हे कोई मार्ग दिखाई नही देता। मस्तिष्क की दासता से अभी वे मुक्त नही हैं। वाह्य चमत्कारो से उनकी वुद्धि चकाचौंध में फँस गयी है। पद का अभिमान विचार को उत्पन्न नही होने देता।

त्याग और प्रेम के आधार पर जन-समाज सगठित करने में स्वार्थ-युक्त व्यक्ति भय करता है, परन्तु प्राकृतिक विधान के अनुसार जो सगठन त्याग तथा सेवा के आधार पर नही है, वह अवश्य मिट जायगा। यह परम सत्य है। देश के वच्चे, रोगी, सग्रह की हुई सम्पत्ति और सेवक, ये चारो एक हो जायँ। इन चारो का सगठन ही सच्चा सगठन है, क्योकि जव अर्थोपार्जन तथा उपभोग करनेवाली पार्टी के ऊपर वच्चो के पालन तथा रोगियो की सेवा का वोझ न रहेगा, तव वे निश्चिन्त होकर अपने कार्य को कर सकेंगे। आज वच्चो तथा रोगियो की चिन्ता मानव को वीर तथा कार्यकुशल नही होने देती। जहाँ सरकारी अस्पताल हो वहाँ एक शुश्रूषा-आश्रम और जहाँ विद्यालय हो वहाँ एक वाल-मन्दिर का होना अनिवार्य हो। वाल-मन्दिर तथा शुश्रूषा-आश्रम में ही वह सग्रह की हुई सम्पत्ति, जो केवल वैंको का हिसाव वढा रही है, आ जानी चाहिए, क्योकि सिक्के से वस्तुओ का, वस्तु से व्यक्तियो का, व्यक्तियो से विवेक का और विवेक से उस नित्य जीवन का, जो परिवर्तन से अतीत है, अधिक महत्त्व है।

सिक्के की दासता ने वस्तुओ का उपार्जन नही होने दिया, जिसके कारण भोजन की सामग्री कम हो गयी है। स्वास्थ्यवर्धक भोजन ठीक न

होने से अनेक प्रकार के रोगो की वृद्धि हो रही है। आज वेजीटेबुल मिल के लिए तो सम्पत्ति है, किन्तु डेयरी फार्म के लिए नही। पूँजीपतियो की इस भूल ने मानव के स्वास्थ्य को खा लिया है। वे ऊपर से तो अहिंसा के गीत गाते हैं, किन्तु पशुओ को न खाकर मनुष्यो को खा जाते है। यदि पूँजीपति धर्मशून्य राजनैतिक नेताओ के अत्याचारों से वचना चाहते हैं, तो उनको सग्रह की हुई सम्पत्ति स्वेच्छापूर्वक वाल-मन्दिर और शुश्रूपा-आश्रम के वनाने में लगा देनी चाहिए, अर्थात् अपनी सम्पत्ति सच्चे सेवको के हाथ में दे देनी चाहिए, नही तो समाज-सुधार के गीत गाकर साम्य-वादी और समाजतंत्रवादी उन डाकुओ की भाँति छीन लेंगे, अथवा विधान वदलकर पूँजीवाद मिटा देंगे, जैसे काग्रेस गवर्नमेण्ट जमीदारी-प्रथा को मिटा रही है। इतना ही नही, हिन्दू अपने को हिन्दू और मुसलमान अपने को मुसलमान न कह सकेगा और न वस्तु से व्यक्ति का मूल्य अधिक होगा, क्योकि पार्टी का प्रतिनिधि वनकर जो कार्य किया जायगा उससे केवल पार्टी सुदृढ होगी, व्यक्ति का निर्माण नही होगा। व्यक्तियो के निर्माण के विना सचाई, ईमानदारी और निष्पक्षता का प्रादुर्भाव नही होता और न स्वार्थ-भावना मिटती है। एक पार्टी सदैव दूसरी पार्टी को मिटाने के लिए तत्पर रहती है, जैसा कि अनेक स्वतन्त्र देशो में हो रहा है। यदि पाठकगण विचार करें तो भलीभाँति ज्ञात होगा कि काग्रेस जैसा अहिंसा तथा सत्य का अनुसरण करनेवाली पार्टी भी सफलता मिलने पर वैसी न रही, जैसी थी, अर्थात् पक्षपात में फँस गयी। उसका मूल कारण यही है कि काग्रेस व्यक्तियो का निर्माण नही कर सकी।

जिस देश के पूँजीपति तथा विद्वान् विपयासक्त हो जाते हैं, उस देश का शासन दूपित हो जाता है, क्योकि शासन करनेवाली सस्था का जन्म विद्वानो तथा पूँजीपतियो के आधार पर ही निर्भर है, जिस प्रकार वुद्धि और प्राण के आधार पर ही शरीर की सारी व्यवस्था चलती है। शरीर में जो स्थान उदर का है, वही समाज में स्थान पूँजीपतियो का है। अत पूँजीपतियो तथा विद्वानो का सुधार होने पर ही राष्ट्र का यथेष्ट निर्माण हो सकता है।

बाल-मन्दिर तथा शुश्रूषा-आश्रमो की सेवा करनेवाले विद्वानो के द्वारा ही गवर्नमेण्ट का निर्वाचन होना चाहिए। जो उन विद्वानो में से वीतराग पुरुष हो अर्थात् जिनका मोह नष्ट हो गया हो, उनको विधान बनाने का अधिकार होना चाहिए। मोहयुक्त प्राणी प्राकृतिक विधान को समझ नही पाता और उसके जाने बिना पक्षपातशून्य विधान बन नही सकता। राष्ट्र का कर्तव्य तो केवल वीतराग पुरुषो के बनाये हुए विधान का पालन करना है। इस समय सच्चे सेवको की बडी कमी है। उसकी पूर्ति तभी हो सकती है, जब पूँजीपति और विद्वान् मिलकर देश के बच्चो का और रोगियो का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लें। विज्ञान और कलाओ की शिक्षा राष्ट्र दे सकता है, किन्तु भारतीय सस्कृति की शिक्षा धर्मात्मा सेवक के द्वारा ही हो सकती है, अत पूँजीपति तथा विद्वानो को मिल जाना चाहिए, नही तो सुधार की आँधी में सग्रह किया हुआ धन भी लुट जायगा। एक पार्टी दूसरी पार्टी को सदैव मिटाती रहेगी, जो अवनति का मूल है।

प्रश्न : क्या ऐसा कोई विद्वान् आपको मिला है, जो बाल-मन्दिर के द्वारा सेवा करना पसन्द करता हो ?

उत्तर : विद्वान् तो कई मिले हैं, किन्तु पूँजीपति अभी तक कोई नही मिला। इसी कारण यह पद्धति समाज मे प्रचलित नहीं हुई। जब समाज को यह विश्वास हो जायगा कि बच्चो की शिक्षा-दीक्षा तथा रोगियो की सेवा धर्मात्माओ ने अपने हाथ में ले ली है, तब समाज का प्रत्येक व्यक्ति वीर बन जायगा और सग्रह की भावना मिट जायगी। यदि हिन्दुस्तानी पूँजीपतियो तथा विद्वानो ने ऐसा नही किया, तो भारतीय सस्कृति और पूँजी दोनो ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे, जो ह्रास का मूल है। राष्ट्र पर यही उत्तरदायित्व है कि सबल निर्बल पर अत्याचार न करे, अर्थात् शिक्षा तथा चिकित्सा की सुव्यवस्था हो और बेकारी न रहे। बाल-मन्दिर के बिना शिक्षा अधूरी रहेगी और शुश्रूषा-आश्रम के बिना चिकित्सा अधूरी रहेगी, क्योकि ये दोनों कार्य सेवक ही कर सकते हैं, नौकर नही। अत यह कार्य धर्मप्रिय विद्वानों तथा पूँजीपतियो को अपने हाथ मे ले लेना चाहिए। यह

कार्य हाथ में आते ही साम्यवाद की आवश्यकता ही शेष न रहेगी और न पार्टीबन्दी की धूम मचेगी। सगठन भी अपने-आप निष्पक्षतापूर्वक त्याग तथा सेवा के आधार पर हो जायगा, जो विकास का मूल है।

प्रश्न : आपने तो सेवा करनेवाले विद्वानो के द्वारा गवर्नमेण्ट के निर्वाचन की पद्धति वतलायी है, परन्तु आज तो कोई भी राष्ट्र तथा देश इस पद्धति को नही मानता, सभी जनता के चुने हुए प्रतिनिधियो के द्वारा निर्वाचन की वात कहते हैं।

उत्तर वाह्य दृष्टि से ऐसा ही देखने मे आता है, किन्तु इने-गिने व्यक्ति प्रचार के द्वारा जनता को अपने पक्ष में लेकर जनता के वहाने अपने मन की वात कहते हैं। इस चुनाव में सचाई नही होती। चुने हुए सदस्य कहने के लिए ही जनता के प्रतिनिधि होते है, वास्तव में वे जनता के नही होते। इस्लाम के खतरे की वात कहकर मुसलमान जनता को भडकाते हैं और अपने पक्ष में ले लेते हैं, हिन्दू-धर्म के गीत गाकर हिन्दू जनता को भड़काते हैं और अपने पक्ष में ले लेते हैं। इस प्रकार करते हैं अपने मन की वात, नाम जनता का ले लेते हैं। इतना ही नही, सवसे वडा दोप इस चुनाव में यह आता है कि वह प्रतिनिधि कहकर पक्षपाती हो जाता है। सेवा करनेवाला व्यक्ति जनता का प्रतिनिधि तो स्वाभाविक ही वन जाता है। उसमें न तो पद का लालच होता है, न पक्षपात, न स्वार्थ, अत. वह उसी व्यक्ति को चुनेगा, जो वास्तव में सच्चा सेवक और ईमानदार होगा। आज तो पार्टी का आधार लेकर अयोग्य व्यक्ति भी पद पा जाते हैं। ये जनता के प्रतिनिधि वनकर पार्टी-लीडर की हाँ में हाँ करते रहते हैं। वह देखने में समाजवाद भले ही हो, वास्तव में तो आदेशकवाद है। जिसने स्वय सेवा न की हो, उसे शासको के निर्वाचन का अधिकार दे देना प्राकृतिक विधान के विरुद्ध है। यदि जनता स्वय सचाई को जानने में समर्थ होती तो शासको के निर्वाचन की आवश्यकता ही क्या थी ? जनता तो अवोध वालक के समान होती है। जनता के द्वारा निर्वाचन होने पर तो सौ मूर्ख निन्यानवे भले आदमियो को हरा सकते हैं। ऐसी गवर्नमेंट कभी सत्य की खोज करनेवाली नही हो सकती। प्राकृतिक विधान के अनुसार सेवा

करनेवालो का चुना हुआ राष्ट्र हो और वीतराग पुरुष का वनाया हुआ विधान हो, तभी समाज में न्याय तथा शान्ति की स्थापना हो सकती है।

सुन्दर समाज : ६ :

साधनयुक्त जीवन मानव-जीवन है। इस दृष्टि से हम सव सावक हैं और जो परिस्थिति हमें प्राप्त है, वह सव साधन-सामग्री है। इस साधन-सामग्री का उपयोग करना साधना है।

इस साधन के दो मुख्य अग हैं · एक तो साधन कि जिससे अपना कल्याण हो और दूसरा वह, जिससे सुन्दर समाज का निर्माण हो। अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण, यह मानव-जीवन की वास्तविक माँग है। जो लोग इन दोनो विभागो को जीवन की माँग नही मानते, वे वास्तव में विवेक-दृष्टि से मानवता को नही जानते हैं। मानव-जीवन एक ऐसा महत्त्वपूर्ण जीवन है, जिसको पाकर प्राणी सुगमतापूर्वक अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। कारण कि मानव-जीवन में ऐसी कोई प्रवृत्ति, अवस्था एव परिस्थिति नही है, जो साधनरूप न हो, अर्थात् यह जीवन साधन-सामग्री से परिपूर्ण है।

अव विचार यह करना है कि अपने कल्याण का अर्थ क्या है और सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ क्या है। अपने कल्याण का अर्थ है, अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता रहे और सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ है, जिस समाज में एक-दूसरे के अधिकारो का अपहरण न होता हो। कुछ लोग सुन्दर समाज का अर्थ मानते हैं सुन्दर-सुन्दर मकानो का निर्माण, सुन्दर-सुन्दर सडको का निर्माण, सुन्दर-सुन्दर वगीचो का निर्माण। ये सव तो वाह्य चीजें हैं। वास्तव में सुन्दर समाज की कसौटी यह है कि जिस समाज में किसीके अधिकारो का अपहरण न होता हो। यदि किसी भाई-वहन से पूछा जाय कि तुम अपनी समझ से किस घर को

सुन्दर कहते हो, तो वे कहेंगे कि जिस घर में ऐसा कोई व्यक्ति न हो, जिसके अधिकार सुरक्षित न हो। तो उस घर को सभी लोग अच्छा घर मानेंगे, जहाँ कि वृद्धजन वालको के अधिकारो को सुरक्षित रखते हो और वालक वृद्धो के अधिकारो को सुरक्षित रखते हो, वहन भाई के अधिकार को सुरक्षित रखती हो और भाई वहन के अधिकार को सुरक्षित रखता हो। ऐसे ही पति पत्नी के अधिकार को सुरक्षित रखता हो और पत्नी पति के अधिकार को सुरक्षित रखती हो। वैसे ही समाज मे मित्र मित्र के और पडोसी पडोसी के अधिकार को सुरक्षित रखता हो। यानी जितने भी सम्बन्ध हैं, उनमें यदि एक-दूसरे के अधिकार सुरक्षित रहते है तो उस घर को, उस समाज को सुन्दर कहेंगे। तो सुन्दर समाज की पहचान यह हुई कि जहाँ किसीके अधिकार का हनन न होता हो। कोई कहते हैं कि सर्वांश में समानता ही सुन्दर समाज का प्रतीक है। इस पर आप विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि समानता का यह अर्थ नही हो सकता कि हमारे सबकी परिस्थितियाँ एक हो जायँ अथवा अवस्था एक हो जाय। गम्भीरता से सोचिये, यदि समानता का अर्थ परिस्थितियो की एकता हो तो समान परिस्थितियो मे गति स्वत रुक जाती है। जैसे कल्पना करो, नेत्र और पैर में समानता हो जाय। नेत्र और पैर दोनो चलने लगें अथवा दोनो देखने लगें तो गति होगी क्या ? लेकिन नेत्रो में देखने की योग्यता है और पैरो में चलने की। दोनो में कर्म, गुण और आकृति की भिन्नता होते हुए भी प्रीति की एकता है, तभी गति सुचारु रूप से होती है। इस दृष्टिकोण से मानना होगा कि परिस्थिति तथा अवस्था की समानता के द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण नही हो सकता। गहराई से विचारिये तो परिस्थिति और गुणो की विभिन्नता होते हुए भी लक्ष्य और प्रीति की एकता होने से ही सुन्दर समाज का निर्माण सभव है। समान अवस्था सुषुप्ति अर्थात् गहरी नीद मे है, परन्तु उसमें जडतायुक्त शान्ति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यवहार की सिद्धि नही होती। जाग्रति और स्वप्न में कभी समान अवस्था नही हो सकती और इसी विषमता से व्यवहार सिद्ध होता है। यह प्रत्येक मानव को दैनिक अनुभव है। परन्तु

परिस्थिति और अवस्था की विषमता में भी एक-दूसरे के अधिकार की यदि रक्षा हो जाय तो वहाँ विषमता में भी समानता ही मानी जायगी और परस्पर सघर्ष नही होगा। कल्पना करो, एक रोगी है और एक डॉक्टर। यदि दोनो की अवस्था एक हो जाय और फिर चिकित्सा हो तो क्या यह समानता मानी जायगी ? किन्तु रोगी तो डॉक्टर की आज्ञा मानें और डॉक्टर रोग का निदान एव चिकित्सा करे तथा दोनो में स्नेह की एकता हो तभी सुन्दरता आयेगी। हम तो आजकल समानता का यह अर्थ करने लगे हैं कि हम सबकी परिस्थितियाँ एक हो जायँ, परन्तु यह मानवता और प्रकृति के बिलकुल विरुद्ध है। ऐसी समानता न कभी हुई है और न कभी होगी। हाँ, एक बात अवश्य है कि जहाँ दो आवश्यकताएँ एकत्र होती हैं, वहाँ समाज बनता है, केवल एक आवश्यकता से समाज नही बनता। जैसे जहाँ विद्यार्थी हो, पर विद्वान् न हो, पुरुष हो, किन्तु महिलाएँ न हो, महाजन हो, किन्तु मजदूर न हो, मजदूर हो, किन्तु महाजन न हो, वहाँ समाज न बन सकेगा। समाज वही बनेगा, जहाँ महिलाएँ और पुरुष दोनो हों, विद्यार्थी और विद्वान् दोनो हो, महाजन और मजदूर दोनो हो। हम सुन्दर समाज उसे कहेंगे, जहाँ महाजनो के द्वारा मजदूरो के अधिकार सुरक्षित हो और मजदूरो के द्वारा महाजनो के अधिकार सुरक्षित हों, विद्वानों के द्वारा विद्यार्थियो के अधिकार सुरक्षित हो, विद्यार्थियो के अधिकार विद्वानो द्वारा सुरक्षित हो, रोगी के अधिकार डॉक्टरो द्वारा सुरक्षित हो, डॉक्टरो के अधिकार रोगियो के द्वारा सुरक्षित हो आदि। जहाँ एक से अधिक वर्ग होते हैं वहाँ समाज होता है। जहाँ एक वर्ग होता है वहाँ समाज नहीं होगा। केवल मजदूरो से समाज नहीं बनेगा, केवल महिलाओ से समाज नही बनेगा। तात्पर्य यह है कि दो आवश्यकताएँ जहाँ एकत्र होती हैं, उसीका नाम समाज समझना चाहिए। जब तक किसी एक की आवश्यकता किसी दूसरे की आवश्यकता की पूरक न हो, तब तक समाज की स्थापना ही सिद्ध नही होती। आज हम स्वरूप से एकता करने की जो कल्पना करते हैं वह विवेक की दृष्टि से अपने को धोखा देना है, अथवा भोली-भाली जनता को बहकाना

है। सोचिये कि सुन्दर मकान क्या उसे कहेंगे, जिसमें सब कमरे समान हो अथवा उसे कहेंगे, जिसमें सब कमरे अपने-अपने कार्य के लिए उपयुक्त हो। जैसे शौचालय अपने स्थान पर ठीक हो, रसोईघर अपने स्थान पर ठीक हो, बैठने का कमरा अपने स्थान पर ठीक हो, सोने का कमरा अपने स्थान पर ठीक हो, कार्य करने का कमरा अपने स्थान पर ठीक हो। तो सब कमरे अपने-अपने स्थान पर ठीक हो, तो उन्हींके समूह को आप सुन्दर मकान कहेंगे। इसी प्रकार सुन्दर शरीर आप उसे कहेंगे, जिसमें प्रत्येक अवयव अपने-अपने स्थान पर सही और स्वस्थ हो। सुन्दर समाज उसे कहेंगे, जिसका प्रत्येक वर्ग अपने-अपने स्थान पर सही हो, ठीक हो। कहने का तात्पर्य यह है कि सुन्दरता का अर्थ अनेक विभिन्नताओ का अपने-अपने स्थान पर यथेष्ट होना है।

तो अब विचार यह करना है कि जब हमें अपने अधिकार प्रिय हैं तो हमारे अधिकार क्या होगे? हमारे अधिकार वही होंगे, जो हमारे साथियो के कर्तव्य हैं। और हमारे साथियो के अधिकार वे हैं, जो हमारे कर्तव्य हैं। हमारे अधिकार तभी सुरक्षित रह सकते है, जब हमारे साथी कर्तव्यपरायण हो और हमारे साथियो के अधिकार तभी सुरक्षित होंगे, जब हम कर्तव्यनिष्ठ हो। हमारी कर्तव्यनिष्ठा ही हमारे साथियो में कर्तव्यपरायणता उत्पन्न करेगी, क्योकि जिसके अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं उसके हृदय में हमारे प्रति प्रीति स्वत उत्पन्न हो जाती है, जो उसे कर्तव्यपरायण होने के लिए विवश कर देती है। अत यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमारी कर्तव्यनिष्ठा ही हमारे अधिकारो को सुरक्षित रखने में समर्थ है। यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि अधिकार कर्तव्य का दास है। हम अपने अधिकार की रक्षा मे भले ही परतन्त्र हो, परन्तु इस बात में सर्वदा स्वतन्त्र है कि अपने साथियो के अधिकारो की रक्षा करें। इसमें कोई पराधीन नहीं है। तो आप विचार करें कि सुन्दरता समाज में कब आयेगी। जब व्यक्ति में सुन्दरता हो तब आयेगी या समाज में सुन्दरता हो तब व्यक्ति में सुन्दरता आयेगी?

इस दृष्टिकोण को सामने रखकर आप सोचें कि अपने को सुन्दर वनाने में हम पराधीन नही हैं, हमारा साथी सुन्दर हो, इसमें हम भले ही पराधीन हो। इससे यह सिद्ध हुआ कि जव हम स्वय सुन्दर होने मे स्वतन्त्र हैं, तो यह सोचें कि हम सुन्दर हो या पहले हमारा साथी निर्दोष अर्थात् सुन्दर हो। प्रत्येक भाई-वहन को यह सोच लेना चाहिए कि हम सुन्दर होने मे स्वाधीन हैं और साथी को हमारी सुन्दरता की आवश्यकता भी है। तो हम पहले स्वय ही सुन्दर वनेगे। हमारी सुन्दरता स्वय हमारे साथियो को सुन्दर वनाने में समर्थ होगी। जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प से स्वय सुगन्ध फैलती है, उसी प्रकार सुन्दर जीवन से समाज में सुन्दरता फैलती है। सुन्दर जीवन की कसौटी यही है कि वह प्रीति से परिपूर्ण हो। प्रीतियुक्त जीवन ही सुन्दर जीवन है। ऐसे जीवन से ही प्रीति का प्रसार स्वय होता है। प्रीति सीखने-सिखाने के लिए किसी पाठशाला की अपेक्षा नही है। व्यक्ति की कर्तव्य-निष्ठा ही समाज में प्रीति का प्रसार करती है। यह सभी का अनुभव है कि परस्पर प्रीति का सचार होने पर सघर्ष स्वत मिटने लगता है और सघर्ष मिटने पर एक अनुपम सन्तोष तथा एकता का उदय होता है। असन्तोष का मूल परस्पर का सघर्ष है, सघर्ष का जन्म प्रीति के अभाव में होता है और प्रीति का अभाव तव होता है, जव हम कर्तव्यनिष्ठ न रहकर अपने साथी के अधिकार का अपहरण करते हैं। यह वात निर्विवाद है कि हमारे और समाज के वीच में अथवा एक दूसरे वर्ग के वीच में प्रीति के अभाव में सघर्प होता है। अत हमें कर्तव्य-परायणता से ही सघर्प का अन्त करना है। उसके विना सरकारी कानून का आधार लेना अमानवता है। जो सुन्दर समाज का स्वप्न कानून के वल पर देखना चाहते हैं, वे यह सोचते हैं कि जब हमारी सरकार सुन्दर वन जायगी या हम सरकार वन जायेंगे, तव हम सुन्दर समाज का निर्माण कर लेंगे, यह अपने को तथा समाज को धोखा देनेवाली वात है। जो कार्य केवल मानवता से ही हो सकता है उसे कानून द्वारा पूरा करने का प्रयत्न केवल अपनी किसी अन्तर में छिपी हुई वासना की पूर्ति का प्रयास ही मानना चाहिए। हमारा समाज तभी

सुन्दर होगा, जब हम कर्तव्य-परायण होंगे। जब हरएक भाई-बहन यह सोचने लगे कि चाहे हमारे अधिकार सुरक्षित हो या न हो, हमें तो अपने कर्तव्य-पालन द्वारा अपने समाज के अधिकारो की रक्षा करनी है, प्रत्येक बहन सोचे कि चाहे हमारा भाई आदर्श हो या न हो, हमे तो आदर्श बहन होना ही चाहिए, प्रत्येक पत्नी सोचे कि पति आदर्श हो या न हो, हमें तो आदर्श पत्नी होना ही चाहिए, प्रत्येक पति यह सोचे कि पत्नी चाहे कर्कशा या कुरूप क्यो न हो, हमें उसके अधिकारो का अपहरण नही करना है। ऐसे सुन्दर भाव यदि हरएक भाई-बहन के मन में जाग्रत हो जायँ तो आप देखेंगे कि आपको सरकार की भी आवश्यकता न होगी।

सुन्दर समाज का असली उद्देश्य क्या है? जहाँ किसी विधान की आवश्यकता न हो, जहाँ बल के द्वारा किसीको बात मनवाने की आवश्यकता न हो। मुझसे कई मिलनेवाले लोग कहते हैं कि अमुक देश बडा ही सुन्दर है, तो मैं पूछता हूँ कि क्या उस देश में पुलिस है? क्या उस देश में फौज रखते हैं? क्या उस देश मे सी० आई० डी० है? क्या उस देश में न्यायालय है? जब वे कहते हैं कि ये सब हैं, तो मैं कहता हूँ कि वहाँ जितना सुन्दर समाज होना चाहिए उतना नही है, चाहे वह देश अन्य देशो से अधिक सुन्दर भले ही हो। आप विचार करे कि जिस शहर में ताला लगाना पडता है, क्या उसे सुन्दर शहर कहेंगे? जिस शहर मे सुन्दर-सुन्दर सडके हो, सुन्दर-सुन्दर बगीचे हो, रहने के लिए सुन्दर बगले हो, परन्तु जहाँ रहनेवाले सुरक्षित न हो तो क्या उसे सुन्दर शहर कहेंगे? कभी नही। जहाँ दूकानदार को दूकान पर ताला लगाना पडता हो, घरो पर ताला लगाना पडता हो, चौकीदार रखने पड़ते हो, तो क्या आप कहेंगे कि वह हमारा कुटुम्ब, हमारा समाज और हमारा शहर सुन्दर है? नहीं कह सकते। जहाँ सुन्दरता आ जाती है वहाँ इन चीजो की जरूरत नही होती, न चौकीदार रखना पड़ता है और न ताला ही लगाना पडता है। सुन्दरता का वास्तविक अर्थ यह है कि जहां हम सब अनेक होते हुए भी एक होकर रहे।

अब प्रश्न होता है कि एक कैसे हो ? यद्यपि सभी प्राणी सुषुप्ति अर्थात् गहरी नीद मे जड़तायुक्त स्वरूप की एकता अनुभव करते हैं, परन्तु उस एकता का कोई महत्त्व नही है। वास्तविक महत्त्व तो उस एकता का है, जिसे हम जाग्रत अवस्था में विविध प्रकार की भिन्नता होते हुए भी एकता का अनुभव करें। वह तभी सम्भव है, जब हम एकमात्र अपना कर्तव्य जानें और उसमें तत्पर हो जायँ। आज जो हमें हमारे सुधारक अधिकारो का गीत सुनाकर अपने अधिकार सुरक्षित रखने की प्रेरणा करते हैं, यह बात कब तक रहती है ? जब तक कि सुधारक महोदय किसी पद पर आरूढ नही हो जाते हैं। पद-प्राप्ति के बाद अधिकार का पाठ पढानेवाले सुधारक महानुभाव हमारे अधिकार भूल जाते हैं और अपने अधिकारो का उपयोग करने लगते हैं। यदि कोई कहे कि अधिकार का क्या मानव-जीवन में कोई स्थान ही नही है, तो उसका उत्तर यही होगा कि अपने अधिकार की प्रियता से हम यह अनुभव करें कि दूसरो को भी अपना अधिकार प्रिय है और दूसरो की प्रियता की पूर्ति ही मानवता है। जैसे कि हम अपनी प्यास की वेदना के द्वारा दूसरों की प्यास बुझाने का प्रयत्न करते हैं तो वास्तव में यही मानवता है। यदि कोई यह सन्देह करे कि हम अपने अधिकार न मांगें या प्राप्त अधिकारो की रक्षा न करें तो हमारा अस्तित्व ही न रहेगा, क्योकि प्राय. देखने में यही आता है कि सबल निर्बल के अधिकार का अपहरण कर लेते हैं, परन्तु इसी प्रमाद से तो एक वर्ग दूसरे वर्ग को मिटाने के लिए प्रयत्नशील होता है। यह सन्देह तभी सिद्ध होता, जब कर्तव्य-परायणता की बात किसी व्यक्तिविशेष या वर्गविशेष से ही कही जाती। जब कर्तव्य-परायणता का पाठ सभी व्यक्तियो, कुटुम्बो, वर्गों और दलो को पढना है और उसका अनुसरण करना है, तब उपर्युक्त सन्देह के लिए कोई स्थान नही रहता। यह पाठ मानवता का पाठ है। यह किसी जातिविशेष का नही, किसी वर्गविशेष का नही, किसी दलविशेष का नही। यदि कोई यह सन्देह करे कि कर्तव्य की बात सदैव निर्बलो को बतायी गयी है, सबल निर्बलो के अधिकार का अपहरण करते रहे हैं और उन्हे अपनी खुराक बनाते रहे हैं, उसीका भयकर परिणाम यह हुआ कि

दु.खी-वर्ग का आकर्षण कर्तव्य की अपेक्षा अधिकार की ओर अधिक हो गया, तो क्या कभी कर्तव्य-शून्य अधिकार सुरक्षित रह सकेगा ? कदापि नही।

जिस दोष ने दूसरो का अधिकार छीनने की भावना जाग्रत कर दी, क्या उस दोष के रहते हुए हम अपने अधिकार सुरक्षित रख सकेंगे ? जिस दोष ने आज पहलेवाले सबल को निर्बल बना दिया, क्या उस दोष को हमें अपने पास रखना चाहिए ? उस दोष को रखकर क्या कालान्तर में हमारी वही दशा नही हो जायगी, जो आज उन सबल लोगो की हुई, जिन्होंने अथवा जिनके पूर्वजो ने इस दोष को अपनाया ? हम लोगो को इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि जो दोष गुण के वेश में आता है, वह बड़ा ही भयकर तथा दु खद सिद्ध होता है। कर्तव्य पर ध्यान न देकर अधिकार-प्राप्ति के लिए मर मिटना गुण के रूप में दोष है। इस अमानवतापूर्ण दोष से बचने के लिए हमें निरन्तर सतर्क और प्रयत्नशील रहना चाहिए। कर्तव्य-परायणता आ जाने पर अधिकार बिना माँगे ही आ जायगा। यदि किसीकी निर्बलता या उदारता से कर्तव्य के बिना अधिकार मिल भी गया तो हम उसे सुरक्षित न रख सकेंगे, यह निर्विवाद सत्य है। अधिकार वही सुरक्षित रहता है, जो कर्तव्य-परायणता से स्वत प्राप्त होता है। जब वीतराग पुरुषो के द्वारा तथा अपने अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि मानवता अपना लेने पर ही हम सुन्दर बनेंगे और हमारी सुन्दरता से ही सुन्दर समाज का निर्माण होगा, तब यह प्रश्न स्वत उत्पन्न होता है कि मानव में मानवता कैसे आये ? उसके लिए यह कहना होगा कि हमारा कर्म भावरहित न हो और भाव विवेकशून्य न हो अर्थात् हमारी भावनाएँ निज विवेक से प्रकाशित रहें और हमारा कर्म भाव से प्रभावित हो। यह नियम है कि कर्म में प्रवृत्ति जिस भाव में होती है, कर्म के अन्त मे कर्ता उसी भाव में विलीन हो जाता है। और, फिर भाव विवेक से स्वत अभेद हो जाता है, अर्थात् विवेक हमारा जीवन बन जाता है और फिर अविवेक तथा उसके कार्यरूप अनेक विकार सदा के लिए ही मिट जाते हैं। यही वास्तव में मानव-जीवन है, क्योकि निर्विकार

जीवन ही मानव-जीवन है। इस पर यदि विचार करें तो एक बात बड़े महत्त्व की प्रतीत होती है कि जब हमें अपने साथी का कोई कार्य उचित प्रतीत न होता हो, तो हम अपने ऐसे ज्ञान के निर्णय को ही सत्य न मान लें, अपितु हम अपने साथी से पूछें कि भाई, यह बात जो तुम कह रहे हो, किस भावना से कह रहे हो और जिस भावना से तुम कह रहे हो, वह किस विवेक पर आधारित है ? ऐसा पहले हम अपने साथी से पता लगाने का प्रयत्न करें।

अगर वह वास्तव में आपका साथी है तो बतायेगा कि उसने आपके साथ जो कटुता का व्यवहार किया, वह अमुक भावना से किया और यदि उस साथी ने सचमुच किसी अशुद्ध भाव से व्यवहार किया होगा तो या तो वह चुप हो जायगा या लज्जित हो जायगा अथवा अपनी बात बदल देगा। वह अपनी कटुता को आपके सामने प्रकट करने में असमर्थ हो जायगा और आप उसके ही द्वारा उसके सत्य को जान लेंगे। परन्तु हम अपने साथी को इतना अवसर ही कहाँ देते हैं ? हमसे प्राय ऐसी भूल हो जाया करती है कि हम अपने विवेक के निर्णय पर ही दूसरे को असत्य जानकर बिगड़ने लगते हैं, क्रोध करने लगते हैं और जो कहना चाहिए वह भी तथा जो नही कहना चाहिए वह भी कहने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हमारा वह साथी हमारे मोहवश, भयवश अथवा अपनी निर्बलता के कारण थोड़ी देर के लिए भले ही चुप हो जाय और हमको राजी करने के लिए जो हम चाहते हो, वही कहने लग जाय, परन्तु उसके मन में हमारे साथ सच्ची एकता न होगी। यह नियम है कि यदि मन में सच्ची एकता न होगी तो वह एकता कालान्तर में मिट जायगी और आज जो हम एक साथ बैठकर परस्पर मे सत्य को जानने का प्रयत्न कर रहे हैं, सम्भव है कि कल अपने-अपने पक्ष के अभिमान को लेकर हम आपस में सघर्ष करने लगें।

वास्तव मे हमें निष्पक्ष भाव से धैर्यपूर्वक अपने साथी के विवेक का पता लगाना चाहिए और सोचना चाहिए कि जो कुछ उसने किया है, क्या उसका विवेक भी वही कहता है। यदि उसका कर्म उसके विवेक के विरुद्ध

सिद्ध हो जाय तो भी हम यही कहे कि भाई, कोई वात नही, भूल हो ही जाती है, परन्तु हम और तुम साथ है। ऐसा करने से उसे अपने प्रमाद का ज्ञान हो जायगा और वह उसे त्याग देगा। यह नियम है कि प्रमाद अपने ही ज्ञान से मिटता है, किसी दूसरे के ज्ञान से नही। इस प्रकार सुविधापूर्वक सघर्ष मिट जायगा और हमारी तथा हमारे साथी की एकता सुरक्षित हो जायगी तथा भेद की खाई मिट जायगी। यदि यह प्रयोग नही किया गया और अपने विवेक पर ही यह मान लिया गया कि उसका दोप अवश्य है तो हमारे और हमारे साथी के वीच एकता कभी नही होगी—न आपस में प्रेम का ही उदय होगा। हमारे और हमारे साथी के हृदय में प्रेम उदय हो और हमारा साथी निर्दोप हो जाय, इसके लिए अत्यन्त आवश्यक है कि हम अपने साथी के विवेक से ही उसको उसके अपने प्रमाद का बोध कराने का प्रयत्न करें, अपने विवेक द्वारा साथी के प्रमाद का उसे वोध कराने का प्रयत्न न करें। अपने विवेक द्वारा तो हम केवल अपने ही प्रमाद को मिटाने का प्रयास करें। जव हम अपने विवेक द्वारा अपने प्रमाद को मिटायेंगे, तभी हम निर्दोप होगे और हमारा साथी भी मान लेगा। यह वड़े महत्त्व की वात है।

आज हम दूसरो के सर्टिफिकेट पर, अर्थात् दूसरो के आधार पर अपना महत्त्व आंक लेते हैं और यह समझ लेते हैं कि हम सचमुच ही वैसे वन गये, जैसे कि लोग हमें कहते हैं। परन्तु हमारी यह मान्यता किसी भी समय हमारे निर्वलतापूर्ण चित्र को समाज के सामने प्रकाशित कर देगी। हमें दूसरो की दी हुई महानता से सन्तोप नही करना चाहिए, प्रत्युत अपनी दृष्टि मे अपने को निर्दोप तथा महान् वनाने का अथक प्रयत्न करना चाहिए। यह नियम है कि हम जैसे अपनी दृष्टि मे है, वैसे ही हम जगत् तथा नियन्ता की दृष्टि मे हो जायेंगे, कारण कि जो वात हम अपने से नही छिपा सकते, वह दूसरो से भी नही छिपा सकते। हमारी असली दशा के प्रकट होने में कुछ समय अवश्य लग सकता है।

आप लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि यदि दोप-दर्शन न करें तो माता-पिता वालको का, गुरुजन शिष्यो का, राष्ट्र प्रजा का सुधार कैसे

करे, क्योकि इनमें अपने दोष देखने की सामर्थ्य है ही नही ? परन्तु यह सन्देह निर्मूल है। जो जिस अवस्था में होता है, वह उस अवस्था के दोषो को भी जानता है, क्योकि प्राकृतिक नियमानुसार मनुष्यमात्र को अपने दोप देखने का विवेक स्वत प्राप्त है। वालक वालकपन के दोप अवश्य देख लेगा, युवक युवावस्था के दोप अवश्य देख लेगा, विद्यार्थी विद्यार्थी अवस्था के दोष अवश्य देख लेगा, विद्वान् विद्वत्ता के दोप अवश्य देख लेगा, महाजन और मजदूर भी अपनी-अपनी अवस्था के दोप अवश्य देख लेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी-अपनी परिस्थितियो में अपने-अपने दोपो का दर्शन सभी को सम्भव है, आपकी सहायता की आवश्यकता नही। आवश्यकता इस वात की है कि हमारे द्वारा हमारे साथी के प्रति कोई दोषयुक्त व्यवहार न हो। इस वात की आवश्यकता नही कि हम अपने विवेक से अपने साथी के दोप देखें। आप कहेंगे कि इस सिद्धान्त के अनुसार तो आपने गुरुजनो, नेताओ और सुधारको का काम ही समाप्त कर दिया। नेता का काम है कि वह समाज को दोप-दर्शन कराये और उसके मिटाने का उपाय वताये। गुरु का भी काम यही है कि वह अपने शिष्य के दोप-दर्शन कराये और उसे दोप मिटाने का उपाय वताये, जिससे शिष्य दोष-मुक्त हो जाय। शासक भी यही सोचते हैं कि जिन पर वे शासन करते हैं, उनका दोप-दर्शन करायें और वल के द्वारा उनको निर्दोप वनाने का प्रयत्न करें।

शासक, नेता और गुरु में थोडा-थोडा भेद है। शासक वल के द्वारा, नेता विधान के द्वारा और गुरु ज्ञान के द्वारा सुधार करने का प्रयास करते हैं। यह अन्तर होते हुए भी तीनो ही सुधारने का दावा करते हैं, परन्तु भैया, मानवता तो एक अनूठी प्रेरणा देती है और वह यह कि अगर हमें नेता होना है तो अपने ही नेता वनें, यदि हमें शासन करना है तो अपने ही पर शासन करें, और यदि गुरु वनने की कामना है तो अपने ही गुरु वनें। मानवता के इस दृष्टिकोण को जव हम अपनायेंगे तो हम अपने को ही अपना शिष्य और अपने जीवन को ही अपना समाज और अपने चरित्र को ही अपनी प्रजा वना लेंगे। यह नियम है कि जो अपना गुरु

बन जाता है, अपना नेता बन जाता है और अपना शासक हो जाता है, वह सभी का गुरु, नेता और शासक बन जाता है। उसका जीवन ही विधान बन जाता है, जिसकी समाज को माँग है।

अब प्रश्न यह होता है कि हम अपने गुरु, नेता या शासक कैसे बनें? भौतिकवाद की दृष्टि से मानव-मात्र को जो विवेक प्राकृतिक नियमानुसार मिला है, आस्तिकवाद की दृष्टि से जो विवेक प्रभु की अहेतुकी कृपा से मिला है और अध्यात्मवाद की दृष्टि से जो अपनी ही एक विभूति है, वह विवेक ही वास्तव में गुरु, नेता तथा शासक है, जो प्रत्येक भाई-बहन को स्वत प्राप्त है। पर, खेद तो यह है कि हम उस विवेक का प्रयोग अपने जीवन पर न करके समाज पर करने की सोचते है। समाज इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पर विश्वास करता है, वह जैसा देखता है वैसा बनता है। जिस चरित्र को हम अपने जीवन से नही दिखा पाते, केवल समझाकर समाज में उसका प्रचार करना चाहते है, अथवा यो कहो कि शासक बनकर बल-प्रयोग से उसे समाज द्वारा मनवाना चाहते हैं अथवा गुरु बनकर समाज के जीवन में उसे ढालना चाहते हैं। यह वास्तव में सभव नही हैं। मानव को विवेक स्वय होने के लिए मिला है। अत यह अनिवार्य हो जाता है कि हम अपने विवेक से-अपने ही दोपो का दर्शन करें और तप, प्रायश्चित्त एव प्रार्थना आदि व्रतो द्वारा अपने को निर्दोष बनायें। प्रायश्चित्त तथा तप द्वारा अपने पर शासन हो सकता है और प्रार्थना द्वारा हम आवश्यक पद प्राप्त कर सकते हैं। जिस जीवन में बुरे सकल्प मिट जाते हैं उस जीवन से समाज में स्वत शुद्ध संकल्पो का प्रचार हो जाता है। यह नियम है कि सकल्प-शुद्धि से कर्म-शुद्धि स्वत हो जाती है। शुद्ध सकल्पों का प्रचार हो जाना ही समाज का वास्तविक नेतृत्व है। विवेक का आदर होने लगे, यही वास्तव में गुरुत्व है। विवेकी जनो से ही विवेक के आदर का प्रचार होता है। शुद्ध सकल्पयुक्त जीवन से ही शुद्ध सकल्प व्यापक हो जाते हैं और प्रायश्चित्त तथा तपयुक्त जीवन से ही समाज के प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति में अपने पर शासन की भावना उत्पन्न हो जाती है।

विवेकयुक्त जीवन ही वास्तव में मानवता है। उसीके आधार पर जब हम अपने को सुन्दर बनाते हैं, तो वही वास्तविक व्यक्तिवाद है और जब अपने चरित्र द्वारा मानवता का प्रसार समाज में किया जाता है, तो वही वास्तविक समाजवाद है। उस मानवता को ही विधान का रूप देकर जब बलप्रयोग द्वारा समाज में प्रसार करने का प्रयास किया जाता है तो वही वास्तव में राष्ट्रवाद है। अत यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि निज-विवेक के प्रकाश में साधनयुक्त जीवन से निर्दोषता प्राप्त करना ही मानवता है और वही मानवता स्थल-भेद से कही व्यक्तिवाद, कही राष्ट्रवाद, कही समाजवाद आदि मान्यताओ से नाम तथा आदर पाती है। मानवता प्राप्त करने में सभी भाई-बहन सर्वदा स्वतन्त्र हैं। हमसे कोई ऐसा कार्य न हो, जिसे हम अपने साथ कराना नही चाहते। और जो अपने प्रति दूसरो से कराना चाहते हैं वह हम दूसरो के प्रति करने के लिए सर्वदा उद्यत बने रहें। तभी हम अपने में विद्यमान मानवता को विकसित कर सकेंगे। मानवता विकसित हो जाने पर जीवन की सभी समस्याएँ हल हो जायँगी। अत मानव को अपने में छिपी हुई मानवता को विकसित करने के लिए सर्वदा अथक प्रयत्न करना चाहिए। मानवता आ जाने पर ही हम सुन्दर होगे, हमारा समाज और राष्ट्र सुन्दर होगा। मानवता में ही हमारा कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण निहित है। ●

विश्व-शान्ति : १० :

यह सभी को विदित है कि बल का दुरुपयोग ही एकमात्र अशान्ति का मूल है। अब विचार यह करना है कि मानव-समाज बल का दुरुपयोग क्यो करता है? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होगा कि जब तक परस्पर प्रीति-भेद नही होता तब तक बल के दुरुपयोग का सकल्प ही उत्पन्न नहीं होता। अत यह निर्विवाद सिद्ध है कि एकमात्र प्रीति-भेद ही बल के दुरुपयोग मे हेतु है, जो अशान्ति का मूल है। प्रीति

आत्मीयता से जाग्रत होती है। किसी अन्य प्रकार से प्रीति का प्रादुर्भाव सम्भव नही है। जब तक मानव सर्वात्मभाव स्वीकार नही करता, तब तक प्रीति की एकता सम्भव नही है। यद्यपि समस्त विश्व का आश्रय तथा प्रकाशक एक है, परन्तु इस मौलिकता को भूल जाने से बाह्य अनेकता के कारण मानव भिन्नता स्वीकार कर लेता है। कारण की एकता होने पर भी कार्य में भिन्नता होती है। यह रचना की शोभा है। प्रत्येक वृक्ष का बीज एक होने पर भी वृक्ष में अनेकता का दर्शन होता है। पर बीज की एकता और वृक्ष की अनेकता को मानव बुद्धि-दृष्टि से देख सकता है। इन्द्रिय-दृष्टि से बीज मे वृक्ष का दर्शन नही होता, परन्तु बुद्धि-दृष्टि से तो बीज के स्थूल भाग की कौन कहे, अव्यक्त भाग में भी समस्त वृक्ष दिखाई देता है। इसी प्रकार जब मानव इन्द्रिय-दृष्टि से असग होकर बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव से प्रभावित होता है, तब व्यक्तिगत भिन्नता होने पर भी समस्त विश्व से एकता स्वीकार करता है। बाह्य भिन्नता के आधार पर कर्म में भिन्नता अनिवार्य है, पर आन्तरिक एकता होने के कारण प्रीति की एकता भी अत्यन्त आवश्यक है। पर मानव जब इस वास्तविकता को भूल जाता है तब कर्म की भिन्नता के साथ-साथ प्रीति की भिन्नता मान बैठता है, जो सघर्ष का मूल है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म की भिन्नता भी पारस्परिक एकता को ही सिद्ध करती है। यदि भिन्नता न हो तो एक-दूसरे के प्रति पारस्परिक उपयोगिता ही सिद्ध न होती। नेत्र से जब देखते हैं तब पैर से चलते हैं। दोनो की क्रिया में भिन्नता है, पर वह भिन्नता नेत्र और पैर की एकता में हेतु है। उसी प्रकार दो व्यक्तियो में, दो वर्गों में, दो देशो में एक-दूसरे की उपयोगिता के लिए ही भिन्नता है। उपयोगिता होने के कारण भिन्नता मे भी एकता ही सुरक्षित रहती है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि जब दूसरों की उपयोगिता मे अभिरुचि नही होती तब भिन्नता भेद को जन्म देती है, जो सघर्ष का मूल है। व्यक्तिगत रूप से जिसे जो प्राप्त है उसकी उपयोगिता दूसरो के प्रति है और दूसरो को जो प्राप्त है उसकी उपयोगिता अपने प्रति है। पारस्परिक आदान-प्रदान भिन्नता से ही सभव है। पर

इस रहस्य को भूल जाने से भिन्नता एकता में परिणत नहीं होती और उसके न होने से प्रीति-भेद उत्पन्न होता है, जो सघर्ष का मूल है। प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, देश यदि दूसरो की उपयोगिता में प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य एव योग्यता व्यय करें तो एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं। और फिर परस्पर स्नेह की एकता बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुरक्षित रह सकती है, जो विकास का मूल हैं। यह सभी को विदित है कि जिस किसीको जो कुछ मिला है वह उसका व्यक्तिगत नही है अर्थात् समष्टि शक्तियो से निर्मित है। इसी कारण मिला हुआ अपने लिए उपयोगी नही होता, अपितु दूसरो के लिए होता है। जिस प्रकार चिकित्सक रोगियो के लिए और रोगियो के पास जो कुछ है वह चिकित्सक के लिए उपयोगी होता है, उसी प्रकार परस्पर जितने सम्बन्ध है उन सभी मे यह स्पष्ट ही है कि परस्पर आदान-प्रदान में ही एक-दूसरे की पूर्ति निहित है। इस वैधानिक सत्य का अनुसरण करने पर ही समस्त सघर्षों का अन्त हो सकता है। भिन्नता के आधार पर जो संघर्ष उत्पन्न होते हैं उनके मूल में अकर्तव्य ही होता है। भिन्नता वास्तव में संघर्ष का कारण नही है और एकता में तो सघर्ष है नही। वाह्य भिन्नता और आन्तरिक एकता के अतिरिक्त समस्त विश्व कुछ नही है। विश्व एकता और भिन्नता का वडा ही अनुपम चित्र है, पर इस कला को कोई विरले ही मनीषी देख पाते हैं। विज्ञानवेत्ता का विज्ञान, कलाकार की कला, साहित्यकारो का साहित्य दूसरो की पूर्ति में ही जीवित है, पर जव इस वास्तविकता को भूल जाते हैं और अपने व्यक्तिगत सुख-लोलुपता की पूर्ति के लिए विज्ञान, साहित्य आदि का उपयोग करने की भावना उत्पन्न कर लेते हैं तव भिन्नता में एकता का दर्शन नही कर पाते। यद्यपि व्यक्तिगत सुख का सम्पादन किसी अन्य के द्वारा ही सभव होता है, परन्तु सुखासक्ति के कारण हम दूसरो के हित की कामना में रत नही रहते, अपितु अपने मान और भोग पर ही दृष्टि रखते हैं। उसीका परिणाम है कि विश्व में अशान्ति का जन्म होता है। विश्व-शान्ति के लिए मानव-समाज को दूसरो के हित की कामना को अपनाना होगा। प्राकृतिक नियमानुसार पर-हित में ही अपना हित निहित है। इस

मौलिकता को भूल जाने के कारण पर-हित में रति नही रहती, जिसके न रहने से ही भिन्नता में एकता का दर्शन नही होता। इतना ही नही, व्यक्तिगत सुखासक्ति ने ही आन्तरिक एकता का साक्षात्कार नही होने दिया, कारण कि सुखासक्ति मानव को मिले हुए अभिमान में आवद्ध करती है और फिर मानव वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से तद्रूप हो जाता है, जिसके होते ही समता के साम्राज्य में प्रवेश नही होता। अत सुखासक्ति मानव को आन्तरिक एकता का भी अनुभव नही होने देती। इस दृष्टि से सुख का प्रलोभन ही अशान्ति का मूल है।

पर-पीडा से पीडित होने पर ही सुखासक्ति का सर्वांश में नाश होता है और फिर अपने-आप पारस्परिक एकता सुरक्षित रहती है। इस दृष्टि से पर-पीड़ा को अपना लेना ही भिन्नता में एकता का वोध कराने में समर्थ है। दूसरो के सुख को सहन न करने पर भी पारस्परिक सघर्ष उत्पन्न होता है, जो एकता में भिन्नता को पोषित करता है। दु खियो को देख करुणित और सुखियो को देख प्रसन्न होने पर ही भिन्नता में एकता का दर्शन होता है। करुणा व्यक्तिगत सुखासक्ति के नाश में समर्थ है और प्रसन्नता निष्कामता को सुरक्षित रखती है। सुखासक्ति का नाश और निष्कामता सुरक्षित रहने पर स्वाधीनता एव शान्ति की प्राप्ति होती है। स्वाधीनता चिन्मय जीवन से अभिन्न करती है और शान्ति से अभिन्न होने पर मिले हुए का सदुपयोग स्वत होने लगता है, जो पारस्परिक एकता में हेतु है। असमर्थता के कारण ही व्यक्ति को जो करना चाहिए उसे वह नही कर पाता और जो नही करना चाहिए उसे वह कर वैठता है। इस कारण असमर्थता का अन्त करना अनिवार्य है। जो कुछ नही कर सकता वह असमर्थ नहीं है। कुछ न करने की स्थिति तो सव कुछ करने पर ही आती है। जो नही करना चाहिए उसे कर वैठना असमर्थता है। शान्ति के सुरक्षित रहने पर वह सामर्थ्य आती है, जिससे अकर्तव्य की उत्पत्ति नही होती और कर्तव्य का अभिमान नही रहता अर्थात् दोषो की उत्पत्ति नही होती और गुणो का अभिमान नही रहता, जिससे परिच्छिन्नता

मिट जाती है। परिच्छिन्नता के मिटते ही अनेकता में एकता का स्वत. बोध होता है। इस दृष्टि से गुणो के अभिमान तथा दोषो की उत्पत्ति में ही समस्त सघर्ष पोषित होते हैं, जिसका मूल सुखासक्ति तथा खिन्नता है। सुखासक्ति पराधीनता मे और खिन्नता क्षोभ मे आबद्ध करती है। पराधीन मानव ही दूसरो से सुख की आशा करते है। और क्षोभित मानव अपने दु ख का कारण दूसरो को मानते हैं, जो वास्तव में प्रमाद है। दूसरो के सुख में सहयोग देने से ही पराधीनता नाश होती है और अपने दु ख का कारण किसी और को न मानने से ही क्षोभ-नाश होता है। पराधीनता तथा क्षोभ का नाश होने पर ही शान्ति तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। स्वाधीन होने पर स्वत समता प्राप्त होती है। समता के साम्राज्य में अशान्ति नही है। शान्ति की भूमि मे ही कर्तव्य-पालन की सामर्थ्य तथा निस्सन्देहता के लिए विचार का उदय होता है। कर्तव्य-परायणता अनेकता में एकता का स्पष्ट बोध कराती है और सन्देहरहित होने पर ही निश्चिन्तता तथा निर्भयता प्राप्त होती है। निश्चिन्तता व्यर्थ चिन्तन से रहित कर वर्तमान को सरस बनाती है। वर्तमान की सरसता निर्विकारता को सुरक्षित रखती है, जो सर्वदा सभी के लिए हितकर है, कारण कि विकारो की उत्पत्ति से ही अहितकर चेष्टाएँ होती हैं, जो सर्वथा त्याज्य हैं। निर्भयता मानव को ऐश्वर्य प्रदान करती है अर्थात् उस पर कोई विजयी नही हो सकता, पर इसका अर्थ यह नही है कि वह दूसरो को पराजित करता है। निर्भयता आ जाने पर मानव सभी को अभयदान देता है। भयभीत मानव ही दूसरो को भय देता है। इतना ही नही, भयभीत होने पर ही दूसरो के विनाश की भावना उत्पन्न होती है। इस दृष्टि से निर्भयता में ही अहिंसा निहित है। हिंसा का अन्त होने पर स्वत शान्ति की स्थापना होती है। इस दृष्टि से मानव-समाज जब तक निश्चिन्त तथा निर्भय नही हो जाता, तब तक शान्ति की स्थापना किसी भी प्रकार सम्भव नही है। भयभीत होने से ही मानव ने विनाशकारी वैज्ञानिक आविष्कार किये हैं, पर बल का दुरुपयोग करने पर कभी भी बल सुरक्षित नही रहता। इस कारण निर्भयता के बिना किसी भी बल का सदुपयोग

सम्भव नही है। अत निर्भय होकर अभयदान देने पर ही मानव विश्व-शान्ति को सुरक्षित रख सकता है।

यह सभी को विदित है कि निर्बल सबल से भयभीत होते हैं। अतएव सबल निर्बलो को अभय-दान प्रदान करें। ऐसा करने से सबल बल के अभिमान से रहित होगा और सबल तथा निर्बल का भेद मिट जायगा, जिसके मिटते ही दो व्यक्तियो मे, वर्गों में, देशो में, मजहबो में, मत-सम्प्रदायो में तथा दलो में स्वत एकता होगी, जो शान्ति में हेतु है। एकता का बोध न रहने पर ही सघर्ष उत्पन्न होते है, जो विनाश के मूल हैं। यह प्रत्येक मानव का अनुभव है कि वह सृष्टि की ओर देखता है तो उसे सारा विश्व एक इकाई के रूप में ही प्रतीत होता है। आज तक किसी दार्शनिक ने यह नही कहा कि समस्त सृष्टि एक नहीं है। अनेकता उसी एक की शोभा है, और कुछ नही। अनेक होने पर भी सभी का आधार और प्रकाशक एक ही है। फिर भी मानव असावधानी के कारण एक इकाई के अन्तर्गत अनेको भेद मान लेता है। स्वरूप से सृष्टि में भेद है नही, केवल वाह्य भिन्नता के आधार पर काल्पनिक भेद है। वास्तविकता की खोज करने पर काल्पनिक भेद मिट जाता है, जिसके मिटते ही वास्तविकता का अनुभव होता है और फिर स्वत पारस्परिक एकता हो जाती है, जिसके होते ही प्रीति का उदय होता है, जो अकर्तव्य, असाधन और आसक्ति के नाश में समर्थ है। प्रीति के अभाव में ही अकर्तव्य की उत्पत्ति होती है। साधन और जीवन की भिन्नता के मूल मे भी प्रीति का अभाव ही है। समस्त आसक्तियाँ उसी समय तक ही जीवित रहती हैं, जिस समय तक प्रीति का प्रादुर्भाव नही होता।

ऐसी कोई सकीर्णता नही है, जिसके मूल में किसी न किसी प्रकार की आसक्ति न हो, कारण कि आसक्ति मानव को असीम से विमुख कर सीमा मे, चेतना से विमुख कर जडता मे और स्वाधीनता से विमुख कर पराधीनता में आवद्ध करती है। प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का उपयोग कामना-पूर्ति में करने से ही आसक्ति उत्पन्न होती है। कामनाओ का उद्गम एकमात्र निज विवेक का अनादर ही है। जब मानव जाने हुए से

प्रभावित नही होता, तव किये हुए में आवद्ध होता है, जिसके होते ही देहाभिमान पोषित होता है और फिर भिन्न-भिन्न प्रकार की परिच्छिन्नताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो भेद को पोपित करती हैं। परिच्छिन्नताओ में आवद्ध मानव ही अशान्ति को जन्म देता है। व्यक्तिगत भिन्नता यद्यपि सृष्टि की शोभा है, परन्तु उसके आधार पर मानव अनेको भेद स्वीकार कर लेता है। उसका वडा ही भयकर परिणाम यह होता है कि प्रीति की एकता सुरक्षित नही रहती और फिर परस्पर वह कर वैठते हैं, जो नही करना चाहिए। न करनेवाली वातो को करने पर ही मानव-समाज कर्तव्य से विमुख होता है। यदि व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन मे परिवार, समाज तथा विश्व में शान्ति स्थापित करना है तो प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, समाज, देश, मत, सम्प्रदाय, मजहव, वाद के लोगो को सर्वांश में दृढतापूर्वक उन सभी कृतियो का त्याग करना होगा, जो नही करना चाहिए। जव मानव किसी भय तथा प्रलोभन से प्रेरित होकर वह कर वैठता है, जिसे वह स्वय जानता है कि नही करना चाहिए तव न तो कर्तव्य की स्मृति ही रहती है और न मानव कर्तव्यनिष्ठ ही हो पाता है। प्राकृतिक नियमानुसार जो अपने कर्तव्य को भूलता है उसे ही दूसरो के कर्तव्य की चर्चा करने का रोग उत्पन्न हो जाता है, जो पारस्परिक एकता सुरक्षित नही रहने देता। अशान्ति के मूल में यही प्रतीत होता है कि दूसरो के कर्तव्य पर दृष्टि रखने से अपने-अपने कर्तव्य की विस्मृति होती है और परिणाम में अशान्ति तथा सघर्ष ही पोषित होता है। यद्यपि दूसरो के कर्तव्य का ज्ञान भले ही ठीक हो, परन्तु जव तक कर्ता स्वय अपने कर्तव्य से परिचित नही होता तव तक वह उसका विधिवत् पालन नही कर पाता। कर्तव्य-परायणता दूसरो के हृदय में कर्तव्य की प्रेरणा देती है और फिर सभी कर्तव्य-पालन में तत्पर होते हैं। अपने-अपने कर्तव्य का पालन करने पर परस्पर में आन्तरिक एकता स्वत हो जाती है। वाह्य भिन्नता आन्तरिक एकता को भंग नही कर पाती, अपितु एकता से जाग्रत प्रियता वाह्य भिन्नता में भी एकता का ही पाठ पढाती है, जो विकास का मूल है।

प्राकृतिक नियमानुसार अपने में अपनी प्रियता स्वभावसिद्ध है, परन्तु

अपने से अपरिचित रहने पर वह प्रियता आसक्ति का रूप धारण कर लेती है। इसी दशा में मानव अपनी ही मान्यता, धारणा, चिन्तन, रहन-सहन आदि को दूसरो में देखना चाहता है। जब उसे नहीं देख पाता तब अपने में और दूसरो में भेद मान लेता है और फिर विनाशकारी प्रयोगो द्वारा बलपूर्वक दूसरो को अपने अधीन करना चाहता है और यह भूल जाता है कि मानव को स्वाधीनता स्वभाव से प्रिय है। किसीकी स्वाधीनता का अपहरण करना ही अपने को पराधीन करने की तैयारी है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता स्वीकार की है। प्रीति की भिन्नता के समान अकर्तव्य की उत्पत्ति का और कोई कारण नही है। समस्त दोपो की उत्पत्ति तभी होती है, जब परस्पर प्रीति की एकता नही रहती। दोपो का समूल नाश तभी होता है, जब सभी के प्रति प्रियता हो। प्रियता स्वत बुराई को उत्पन्न ही नही कर देती तो फिर किसी बुराई के करने का प्रश्न ही नही रहता। प्रियतापूर्वक सुधार में भी सुरक्षा का भाव सतत रहता है। विनाश की भावना उत्पन्न नही होती है। इस दृष्टि से प्रियता के साम्राज्य में ही शान्ति तथा स्वाधीनता सुरक्षित रहती हैं। अविचल शान्ति अगाधप्रियता में ही निहित हैं, और अगाधप्रियता सर्वात्मभाव से ही जाग्रत होती है। इस कारण समस्त विश्व एक जीवन है, इस वास्तविकता को अपना लेने पर ही विश्व-शान्ति सम्भव है।

विश्व-शान्ति सुरक्षित रखने के लिए मानव-समाज ने दो मान्यताएँ स्वीकार की—राष्ट्रीयता तथा मजहब अर्थात् न्याय और प्रेम के द्वारा ही शान्ति को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। परन्तु जब तक मानव अपने प्रति न्याय और दूसरो के प्रति प्रेम को नहीं अपनायेगा, तब तक शान्ति का सुरक्षित रखना किसी भी प्रकार सम्भव न होगा। किसी भी परिवार में अशान्ति कब होती है? जब परिवार के सदस्य अपने-अपने सुख के लिए दूसरो के प्रति न्याय करते हैं और यह भूल जाते है कि न्याय तो अपने प्रति करना था। दूसरो के साथ तो प्रेम किया जा सकता है। प्राकृतिक नियमानुसार न्याय से निर्दोषता और प्रेम से अभिन्नता सिद्ध

होती है। जब मानव अपने ही प्रति न्याय नही करता, तब उसमे किसी न किसी अश में दोष उत्पन्न हो ही जाते हैं और जब दूसरो से प्रेम नही करता तब किसी न किसी अश मे भेद उत्पन्न हो ही जाता है। दोष तथा भेदो की उत्पत्ति होने पर परिवार की शान्ति भग हो जाती है। समस्त विश्व भी एक विराट् परिवार है, और कुछ नही। यदि दूसरो के प्रति प्रेम तथा अपने प्रति न्याय नही किया तो विश्व-शान्ति सम्भव नही है। प्रेम में त्याग और न्याय में तप स्वत सिद्ध है। त्याग चिर-शान्ति, स्वाधीनता एव एकता से अभिन्न करता है और तप असमर्थता का अन्त करता है। अर्थात् तप से आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। अत अपने प्रति न्याय तथा दूसरो के प्रति प्रेम वही कर सकता है, जिसे तप और त्याग अभीष्ट हो। अब विचार यह करना है कि तप का वास्तविक स्वरूप क्या है? निर्दोषता को सुरक्षित रखने के लिए बडी-से-बडी कठिनाइयो को सहर्ष सहन करना तप है और अह और मम का सर्वांश में नाश करना त्याग है। निर्दोष जीवन की माँग सभी को सदैव रहती है और प्रेम स्वभाव से ही दूरी, भेद तथा भिन्नता का अन्त करने में समर्थ है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति, देश, राष्ट्र तथा समाज को अपने प्रति न्याय और अन्य के प्रति प्रेम का वर्ताव करना अनिवार्य है। यही महामन्त्र है व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रगत तथा विश्वगत शान्ति को सुरक्षित रखने का, पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा, जब अपने में अपनी जानी हुई भूल न रहे और की हुई भूल को पुन न दुहराया जाय, अपितु अपने प्रति होनेवाली बुराई का उत्तर बुराई से न देकर यथाशक्ति भलाई से दिया जाय। तब अनेक भेद होने पर भी एकता सुरक्षित रहेगी, जो शान्ति की जननी है।

३

चर्चाएँ तथा प्रश्नोत्तर : ११ :

(१)

१ स्वस्थ जीवन की प्राप्ति आत्मीयता, असगता और कर्तव्य-परायणता से हो सकती है। इसके लिए हमें सत्य को स्वीकार करना होगा। सत्य क्या है ? "मुझे कोई बुरा न समझे। मैं किसीके साथ बुराई न करूँ। मैं सबके साथ भलाई करूँ।" भलाई समाज के लिए होती है, लेकिन अपने लिए अचाह (आकाक्षारहित) होना होगा। इससे हम ससार के प्रति उदार बनेंगे, अपने प्रति हममें स्वाधीनता का उदय होगा और भगवान् के प्रति प्रेमपूर्ण बनेंगे।

ऐसा व्यक्ति समाज से अभिन्न हो सकेगा, समाज उससे अभिन्न होगा। समाज ऊँचा उठेगा।

२. गरीबी सग्रह और लोभ से आती है। उदारता से लोभ का नाश हो जाता है, इससे सग्रह-रुचि का भी नाश होता है। अधिक सग्रह से गरीबी दूर होगी—यह भ्रम है।

३ उदारता मनुष्य को एकता की ओर ले जाती है, एकता स्वाधीनता की ओर तथा स्वाधीनता प्रेम की ओर।

४ दुनिया में कल्पना-भेद, परिस्थिति-भेद, रुचि-भेद, योग्यता-भेद तथा सामर्थ्य-भेद रहनेवाले हैं, पर इन सबके रहते हुए भी प्रीति की एकता सम्भव है। प्रीति को एकता ही वास्तविक एकता है और यही सत्य है। अनेक भेद होने पर भी लक्ष्य एक हो सकता है। लक्ष्य की एकता भी सम्भव है। इस पर हमारी दृष्टि रहनी चाहिए। कल्पना की एकता तथा परिस्थिति की एकता—इनसे काम नहीं बनेगा। पहले हमने हिन्दू-

मुस्लिम एकता की कल्पना की थी, वह टूटी। अब मुसलमानो में भी एकता की जो कल्पना थी वह भी इन दिनो टूटी है। हमें प्रीति की एकता तथा लक्ष्य की एकता का बोध यदि प्रत्येक परिस्थिति में नही होगा, तो सघर्ष का जन्म होगा। भिन्नता की भावना योग, अहिंसा, सत्य और बोध—इन सबकी विरोधी है।

५ शिक्षा की प्रणाली में परिवर्तन गौण है। मुख्यतया परिवर्तन शिक्षक में होना चाहिए। शिक्षा दोषपूर्ण नहीं, शिक्षक दोषपूर्ण है। शिक्षक अर्थ और काम से मुक्त होगा तो ही बालक अर्थ-काम से मुक्त हो सकेगा। अत शिक्षक गृहस्थ नहीं, वानप्रस्थ हो।

दीक्षा का अर्थ अपने लक्ष्य का निर्णय और लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साधना का निर्णय है।

आज का शिक्षक आज की शिक्षा की आवश्यकता की पूर्ति नही करता, क्योकि वह स्वय अर्थ और काम में फँसा हुआ है।

शिक्षा सरकार के अधीन न हो, समाज के अधीन रहे। इसी प्रकार चिकित्सा की जिम्मेदारी भी समाज पर रहे। समाज का अर्थ सेवाभावी लोगो से है। सेवा-कार्य साधको के हाथ में रहना चाहिए और इसकी व्यवस्था सरकारी टैक्स से न होकर भिक्षा या दान से हो। सरकारी अस्पताल के बजाय नर्सिंग होम पर ज्यादा जोर दिया जाय और सरकारी स्कूलो के बजाय जनता के बाल-मन्दिरो पर। शिक्षा और चिकित्सा पेशे न होकर सेवाएँ हो।

६. समाज की उन्नति के लिए साधना व्यक्तिगत रहे और सुधार सामूहिक रहना उचित है। समाज व्यक्ति के कर्तव्य का क्षेत्र है—व्यक्ति का निर्माण सबसे आवश्यक और प्राथमिक है। सुन्दर व्यक्तियो से ही सुन्दर समाज का निर्माण हो सकता है, अत सुधार का आरम्भ व्यक्ति से ही होगा।

सेवा से लोगो का पालन-पोषण हो तो परम्परा अच्छी बनेगी। बालक माता-पिता की गोद में अच्छी तरह नही पल सकता, क्योकि उनमें मोह होता है, नौकर की गोद में भी नही, क्योकि उसमें बेईमानी होती

है। इससे वालक-हृदय का विकास रुकता है। जिसे सेवा नही मिली, वह सेवा कैसे कर सकेगा ? अत वाल-मन्दिर सवसे पहले खुलने चाहिए। वे साधको के द्वारा चलाये जायें। सहकारी भावना से चलें। वानप्रस्थ साधक सेवा, चिकित्सा और शिक्षा का काम करें।

७. आन्दोलन में दूसरे को वदलने का प्रयास होता है। मैं स्वय को वदलने की—व्यक्ति को वदलने की वात कहता हूँ—मनुष्य को स्वय को वदलना क्रान्ति है—प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन करे तो ही सुन्दर समाज का निर्माण हो सकता है। कर्तव्य के पालन से अधिकार स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। जो परिस्थितियाँ वनती हैं उनमें कोई एक वर्ग ही जिम्मेदार नहीं है, सभी जिम्मेदार हैं।

राज्य के हाथ में अधिक शक्ति और सत्ता देने से समाजवाद नही आता, अपितु नौकरशाही वढ़ जाती है। सिक्के का उपयोग केवल विनिमय के लिए है। सिक्के को वस्तु से अधिक न माना जाय, वस्तु को कभी व्यक्ति से अधिक न माना जाय। व्यक्ति विवेक के अधीन हो और विवेक सत्य के अधीन। सत्य की स्वीकृति सवसे पहली चीज माननी चाहिए।

परिस्थिति और व्यक्ति दोनों का सुधार आवश्यक है—अन्यथा मनुष्य उदार, स्वाधीन और प्रेमी नही होगा।

सिक्के की गुलामी से वचें, दूध न वेचा जाय—इससे लालच आ जायगा। उद्योग-धन्धे जहाँ तक सम्भव हो—छोटे और हाथ से चलनेवाले हो। मशीनरी में हमारा विशेष विश्वास नही। उत्पादन आवश्यकतानुसार हो। उत्पादन वढ़ाने का अपने-आपमें कोई महत्त्व नही। वडे पैमाने पर उत्पादन से सिक्का वढेगा, मनुष्य का महत्त्व घटेगा।

८ ममतायुक्त उदारता प्राणीमात्र में जन्मजात मौजूद है। परन्तु मानव में विवेक और विश्वास का तत्त्व है, इस कारण वह अपने ही में अपने प्रेमास्पद को स्वीकार करता है और उन्हींके नाते समस्त विश्व को अपना मानता है। इस दृष्टि से मानव सुखियो को देखकर प्रसन्न और दु खियो को देखकर करुणित होता है। प्रसन्नता की अभिव्यक्ति होने पर

मानव कामरहित हो जाता है और करुणित होने से भोग की रुचि शेष नही रहती। अर्थात् उसे स्वत योग, वोध तथा प्रेम प्राप्त हो जाता है।

९ सुख-दु ख सृष्टि का स्वरूप है। सुख का सदुपयोग सेवा से और दु ख का सदुपयोग त्याग से होता है। सेवा और त्याग एक ही सत्य के दो पहलू हैं। सुखी वेचारा सुख को वाँट सकता है, उसका त्याग नही कर सकता, यद्यपि सेवा का अन्त स्वत त्याग में हो जाता है। परन्तु दु खी त्याग को अपनाकर ही उस जीवन मे प्रवेश पाता है, जो जीवन सुखी को सेवा से मिलता है। सुख-दु ख दो अवस्थाएँ हैं और इनके सदुपयोग से सेवा और त्यागपूर्वक वास्तविक जीवन की प्राप्ति होती है।

हमारे सामने तीन तत्त्व हैं . अह (मैं), यह (विश्व) और वह (अस्ति या परमात्मा)। अह तत्त्व की परमात्मा के साथ जातीय एकता है—और जो शरीर तत्त्व है—उसकी यह तत्त्व विश्व तत्त्व के साथ जातीय एकता है। इस प्रकार यह शरीर मेरा नही है—ससार का है—उसे ही सौंप देना चाहिए। जो अपना नही है, उसे अपना मानना भ्रम है। इस भ्रम को दूर कर लेना है। शरीर को ससार के काम में लगा देना चाहिए। ससार को शरीर की आवश्यकता है और जव इस शरीर को हम ससार की आवश्यकता वना देते हैं, तो ससार स्वय शरीर की आवश्यकताओ की पूर्ति की जिम्मेदारी उठा लेता है। वह स्वय उनकी पूर्ति करेगा।

ससार की आवश्यकताओ की पूर्ति शरीर के द्वारा तव होती है, जव हम दूसरो के अधिकारो की सुरक्षा मे लगते हैं और जव हम अपनी अधिकार-लोलुपता और अधिकार-लालसा को त्याग देते हैं। यही हमारा कर्तव्य-पालन है। कर्तव्य-पालन से मनुष्य रागरहित वनता है।

मेरे लिए प्रभु ही अपना है—उन्हीसे हमारी जातीय एकता है। उसमे हमें अपना चित्त लगाना चाहिए—इसमें वस्तु, योग्यता या परिस्थिति की सहायता की आवश्यकता नही है। इसके अतिरिक्त अगर किसी अन्य मे हम अपना चित्त लगायेंगे तो हम चिन्ता, भय तथा आसक्ति के शिकार वनेगे। इससे सामर्थ्य का ह्रास तथा दुरुपयोग होगा और हम पराधीन

हो जायेंगे, साथ ही हमें मोह, लोभ, शोक और भय प्राप्त होंगे। अपना मानने जैसा ससार में कुछ नही है, अगर फिर भी हम उसे अपना मानेंगे तो दु ख उत्पन्न होगा, उसे कोई नही मिटा सकता। हमें अपने ज्ञान के द्वारा, अपने विवेक के प्रकाश में यह अनुभव करना है—मेरा कुछ नही है, मुझे कुछ नही चाहिए। जो कुछ है, वह प्रभु का है और वह प्रभु मेरा।

मानव का पुरुषार्थ सत्सग में है। असाधन मिटने से व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होगी। यदि हम शरीर के साथ तादात्म्य स्वीकार करके ही रहे तो वह निरर्थक है—एक तरह से तब तक मानव का जन्म ही नही है। जिस दिन हमें होश आया कि खाना, पीना, रहना मात्र जीवन ही है, तभी से जन्म हुआ, जीवन प्रारम्भ हुआ—ऐसा मानना चाहिए।

शरीर का और ससार का अविच्छिन्न सम्बन्ध है—अत. यह उचित है कि हम अपने शरीर के द्वारा ससार को क्षति न पहुँचायें, बल्कि हमें आगे बढ़कर यह भी मानना होगा कि सारे ससार का सुख मेरा सुख है और संसार का दु ख मेरा दु ख।

तब शरीर के द्वारा हम ससार की सेवा सर्वहितकारी भाव से करें। हमें अपना कोई स्वार्थ नही चाहिए—हमें अपना कोई सुख नही चाहिए—यह सेवा का मूलमन्त्र है।

यदि हम शरीर को अपने सुख या अपने हित का माध्यम न बनायें तो सेवा के लिए पराश्रय स्वीकार करने पर भी वह बन्धनकारक नही होगा।

हम अपने परिवार को छोड़कर आने को तैयार हो जाते हैं, हम त्याग भी करते हैं, समाजसेवी भी बन जाते हैं, पर तब भी हमारा सीमित अहं रह ही जाता है—उसे हम नही गला पाते हैं तो घर और वन में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

साधक को अपनी सेवा का विस्तार अपने मोह के सम्बन्धो से आगे करना चाहिए। तभी वह आगे बढ़ सकेगा।

यदि साधक व्यर्थ चिन्तन से छुट्टी नही पाता और भगवान् का नाम सुनकर या लेकर उसके मन में प्यार नही उमड़ता, तो वह प्रारम्भ यहां

से करे कि सब कुछ प्रभु का है, सब प्रभु के हैं। उसे चाहिए कि वह दुःखी को देखकर करुणापूरित हो और प्राणीमात्र को सुखी देखकर प्रसन्न होने की भावना बनाये। यह स्वाभाविक भी है और उसके लिए अत्यन्त हितकारी भी है। यदि वह निजी सुख और स्वार्थ की दृष्टि से रहित सर्वहितकारी तथा व्यापक सेवा-कार्य अपनाता है तो सेवा का माध्यम उसकी भोग की रुचि का नाश करेगा, व्यर्थ चिन्तन से उसे छुट्टी मिलेगी और प्रिय का प्यार भी उमड़ेगा। हमने अपने मोह के कारण अपने हृदय को विभाजित कर लिया है—यदि हम सेवा का कार्य अपनी सीमित शक्ति से भी करें, पर असीम भाव से करेंगे तो सुन्दर समाज के निर्माण में सहायक होंगे—शरीर से असग हो सकेंगे और परमात्मा के प्रिय हो सकेंगे।

सेवा करने के लिए भौतिक दृष्टि से सब अपने हैं, आध्यात्मिक दृष्टि से कोई अपना नहीं है, आस्तिक दृष्टि से सब प्यारे के प्यारे हैं, सब प्रभु के हैं, तब संसार मायाजाल नही लगेगा—यह ससार हमें प्रभु की याद दिलानेवाला होगा। जब हम ससार को अपनी योग्य वस्तु नही मानेंगे, तब यहाँ का प्रत्येक दृश्य हमें प्रभु की याद दिलानेवाला होगा।

प्रारम्भ होगा इस मान्यता से—सब प्रभु के हैं—फिर आगे बढ़ेंगे इस विश्वास पर कि सबमें प्रभु है—फिर केवल प्रभु ही है, यहाँ तक पहुँच जायेंगे।

प्रश्न सामाजिक एकता के लिए भिन्नता में एकता से आपका क्या आशय है?

उत्तर . ससार में योग्यता, रुचि, सामर्थ्य आदि अनेक प्रकार रहे हैं और रहेंगे। इन विविध प्रकार की अनेकताओ के होते हुए भी लक्ष्य की एकता हो सकती है। उसकी एकता पारस्परिक प्रीति की एकता हो सकती है। ये दोनो प्रकार की एकता अन्य अनेक प्रकार की भिन्नताओ के बावजूद हो सकती है।

प्रश्न : सुन्दर समाज का जिक्र आपने बार-बार किया है—आपके विचार के अनुसार सुन्दर समाज कैसा होगा ? उसका क्या रूप होगा ?

उत्तर : (क) जिस समाज को पुलिस, फौज और न्यायशाला की अपेक्षा न हो। (ख) जिसमें किसीके अधिकार का अपहरण न हो।

(ग) जिसमें एकता कर्तव्य-परायणता के आधार पर कायम हो, उसे सुन्दर समाज माना जायगा ।

प्रश्न · इस प्रकार के समाज के निर्माण का उपाय क्या होगा ?

उत्तर : इसका उपाय यह है कि कर्तव्य-परायणता अर्थात् अपने अधिकार का त्याग और दूसरे के अधिकार की रक्षा ।

प्रश्न . सुन्दर समाज का प्रारम्भ कैसे होगा ?

उत्तर व्यक्ति-निर्माण से ही प्रारम्भ होगा । उदाहरण के लिए मेरा यह विचार रहा है कि युवक-युवतियो को बच्चो और वृद्धो के भार से मुक्त किया जाना चाहिए । बच्चे बाल मन्दिर में रहें और वृद्धो के लिए परिचर्या-गृह हो । युवक-युवतियो को अपने देश की रक्षा के लिए प्रशिक्षण दिया जाय । वह सैनिक-प्रशिक्षण भी हो सकता है अथवा मारने के बजाय मरने का प्रशिक्षण भी दिया जा सकता है । सरकार पर शिक्षा, चिकित्सा की जिम्मेदारी नही होनी चाहिए । यह जिम्मेदारी साधको तथा समाज को उठानी चाहिए । अगर बालक साधको की गोद में पलेंगे तो बालक अधिक योग्य बनेंगे । माँ-बाप बालको के मोह के कारण उपयुक्त शिक्षण नही दे पाते । वह काम साधक कर सकेंगे । आज के बालक रहने-सहने के ठाट-बाट में पड जाते हैं, साधको के द्वारा शिक्षण में यह बुराई नही आयेगी । हम चाहते हैं कि जो वयस्क और वृद्ध हैं—उनके विश्राम के लिए जगह-जगह आश्रम खुलें, जहाँ ऐसे लोग आकर शान्ति प्राप्त करें, थकावट मिटायें, विश्राम प्राप्त करें और समाज की सेवा भी करें ।

प्रश्न . आपका सुझाया हुआ सुन्दर समाज एक प्रकार से राज्य ही है—उसका विधान कौन बनायेगा ?

उत्तर : कुछ थोड़े से लोग, जो वीतराग हो, वे सबके हित का विधान बनायें । बहुत से लोग या सारी जनता विधान नहीं बनायेगी । सरकार को तो विधान बनाने का अधिकार होना ही नही चाहिए । इसी प्रकार जन-नेताओ को मन्त्री बनने का अधिकारी नहीं होना चाहिए । जन-नेता का काम तो शासन और प्रजा के बीच सामजस्य स्थापित करने का—दोनों के बीच की कड़ी का होना चाहिए ।

जन-नेता तथा जन-सेवक का जीवन पवित्र होना चाहिए। वह ममता और कामनाओ, दोनो से मुक्त होगा, तभी सेवा कर सकेगा।

प्रश्न आपका यन्त्रो तथा यन्त्रोद्योगो के सम्बन्ध में क्या विचार है ?

उत्तर मैं सामान्यत यन्त्रो के खिलाफ हूँ— क्योकि यन्त्रो से विलास में वृद्धि होती है, सग्रह वढता है, अभिमान आता है और वेकारी वढती है।

कपडे के सम्बन्ध में मेरा ऐसा मत है कि मिल का वना कपड़ा बूढो और वच्चो के काम आये और हाथ का बना युवक-युवती और लोग पहनें।

प्रश्न आपने सुन्दर समाज में सेना को अनावश्यक वताया है—उसमें सेना न होगी तो विदेशी आक्रमण से रक्षा किस तरह सम्भव होगी ?

उत्तर सुन्दर समाज में फौज, पुलिस और न्यायशाला होगी ही नही। आज भी हमने सुना है कि युवक फौज में भरती होने से इनकार कर रहे हैं। हमें लगता है कि एक-दो लडाइयाँ दुनिया में और हो जायँ तो फिर फौज रहेगी ही नही, उनमें कोई भरती होगा ही नही।

आज की स्थिति तो ऐसी है कि केवल एक दर्जन आदमी सारे राष्ट्र के भविष्य के वारे में—युद्ध या शान्ति के वारे में निर्णय कर लेते हैं—कभी-कभी तो राष्ट्र में एक आदमी ही ऐसा निर्णय कर देता है और सारे देश को वरवाद कर डालता है।

प्रश्न इस समाज के निर्माण की पद्धति क्या होगी ?

उत्तर कर्तव्य-परायणता के आधार पर ही सुन्दर समाज का निर्माण हो सकता है।

प्रश्न : इसके लिए सगठन आदि के निर्माण के वारे में आप क्या सोचते हैं ?

उत्तर हम तो केवल कर्तव्य-परायणता की प्रेरणा दे सकते हैं। हम तो एक-एक व्यक्ति के निर्माण में अपनी पूरी शक्ति लगा सकते हैं। किसी-को सगठन वगैरह वनाने की प्रेरणा हो तो वनाये।

हम तो कोई सगठन वनाने के इच्छुक थे ही नही। लोगो ने आग्रह-पूर्वक साधन जुटा लिये तो हमने मजवूरी से मानव-सेवा-संघ की स्थापना सस्था के रूप में कर दी।

प्रश्न : यह क्रान्तिकारी समाज-परिवर्तन कैसे होगा ?

उत्तर : क्रान्ति व्यक्ति में आयेगी, क्रान्ति जीवन में आयेगी। क्रान्तिकारी व्यक्तियो से सुन्दर समाज बनेगा। हमें समाज में एकता के भाव को लाना चाहिए। अनेक भेद होने पर भी लक्ष्य की एकता और प्रीति की एकता लायी जा सकती है। व्यक्ति-व्यक्ति में क्रान्ति का प्रयास होना चाहिए। एक-एक क्रान्तिकारी व्यक्ति समाज में क्रान्ति की स्थिति लायेगा। इससे समाज क्रान्ति की ओर अग्रसर होगा।

(२)

प्रश्न किसी आदमी को कर्तव्य-पालन में हानि होती हो तो वह उस हानि से कैसे बचे ?

उत्तर : सच्ची बात यह है कि कर्तव्य-पालन से कभी किसी की हानि होती ही नहीं। हानि का अर्थ है मनुष्य-जीवन का सकीर्णता में, पराधीनता में बंध जाना, विकास में बाधक बन जाना। मनुष्य को उदार होना चाहिए, स्वाधीन होना चाहिए। सकीर्ण बन जाना, पराधीन हो जाना हानि है। किसीका पैसा चला जाय तो उसे हानि नही कहते और किसीको बेईमानी करने से लाभ हो जाय तो उसे लाभ नही कहते। कर्तव्य उसे नहीं कहते, जिसके पालन में व्यक्ति असमर्थ हो। सामर्थ्य-विरोधी काम कभी किसी साधक को करना ही नही है। प्राप्त सामर्थ्य और निजविवेक के अनुरूप कर्तव्य-पालन से व्यक्ति का विकास होता है।

प्रश्न : मनुष्य का सम्बन्ध ससार और परमात्मा के साथ कैसा हो ?

उत्तर . मानव को जगत् के प्रति उदार और अपने प्रकाशक के प्रति प्रेमी होना चाहिए। जगत् मानव से उदारता की ही आशा रखता है और जो सभी का आधार तथा प्रकाशक है उसे मानव के हृदय का प्यार चाहिए। इस दृष्टि से मानव जगत् के लिए तथा सर्वाधार के लिए उपयोगी हो सकता है। यह विशेषता मानव को अपने निर्माता से प्राप्त है। यह सर्वमान्य सत्य है कि दृश्य की सीमा द्रष्टा के अन्तर्गत ही होती है। इस दृष्टि से समस्त दृश्य इन्द्रियो की सीमा के भीतर है और इन्द्रियाँ मन की सीमा के भीतर हैं और मन बुद्धि की सीमा में है। बुद्धि तथा इन्द्रिय

दृष्टि से ही जगत् की प्रतीति होती है। बुद्धि का ज्ञाता जो अहम् तत्त्व है, वह बुद्धि की सीमा से बड़ा है और अहम् का जो ज्ञाता अनन्त तत्त्व है वह अहम् से बड़ा है। अत सर्व का ज्ञाता और प्रकाशक जो अनादि, अनन्त, अनुपम, अद्वितीय तत्त्व है उसके किसी अंश में अहम् और अहम् तत्त्व के किसी अश में इद तत्त्व है अर्थात् 'है' के किसी अश में 'मैं' और 'मैं' के किसी अश में 'यह' सृष्टि है। अत मानव को जगत् के प्रति उदारता और अपने प्रकाशक तथा आधार के प्रति आत्मीयता रखनी चाहिए।

प्रश्न शरीर के रहते हुए क्या मानव स्वाधीन हो सकता है ?

उत्तर शरीर मानव का स्वरूप नही है, अपितु साधन-सामग्री है। साधन-सामग्री का सदुपयोग करने में मानव सर्वदा स्वाधीन है। मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग करने पर मानव अपनी भूल से ही पराधीनता में आबद्ध होता है। मानव जन्मजात स्वाधीन ही है, यदि मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग न करे। जब मानव मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नही करता तब वह स्वय स्वाधीन होकर उदारता तथा प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है और यही मानव का निज-स्वरूप है।

प्रश्न विना देखे, बिना जाने भगवान् की महिमा हम क्यो स्वीकार करें ? भगवान् की जरूरत क्यो पडती है ?

उत्तर . भगवान् की महिमा हम क्यो स्वीकार करें, इस सम्बन्ध में विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि क्या तुम्हारे जीवन में किसीका महत्त्व नही है ? यदि किसीका है तो क्या तुम्हारी उसमें आत्मीयता हो गयी ? क्या आत्मीयता के विना नीरसता का सर्वांश में नाश हो सकता है ? कदापि नही। देखी हुई वस्तु, व्यक्ति आदि का महत्त्व स्वीकार करने पर लोभ, मोह आदि विकारो की ही उत्पत्ति होती है, किन्तु मानव को निर्विकारता चाहिए। विना देखे भगवान् के महत्त्व को स्वीकार करने पर समस्त दृश्य का आकर्षण नष्ट हो जाता है और स्वत मधुर स्मृति जागृत होती है, जो मानव को रसरूप जीवन से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से विना देखे प्रभु के महत्त्व को स्वीकार करना और देखे हुए दृश्य के आकर्षण को अस्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।

प्रश्न विचार क्या हैं ?

उत्तर . दृश्य का यथार्थ ज्ञान जिस चेतना से होता है, वह विचार है। विचार से अविचार की निवृत्ति होती है। फिर विचार स्वत. विचारक को लक्ष्य से अभिन्न कर देता है अर्थात् विचार से काम की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति एव प्रेम की प्राप्ति स्वत हो जाती है।

प्रश्न . सत्य क्या है ?

उत्तर जिससे असत्य की जानकारी हो। जो कभी नष्ट न होता हो, सदैव रहनेवाले को सत्य कहते हैं।

प्रश्न · कोई बुराई करे तो क्या उसे हम छोड दें ?

उत्तर कोई सामने बुराई करता होगा तो मैं हाथ पकड़ लूँगा—उसकी मार भी खा सकता हूँ। वैसे अगर आप बलवान् है तो आपके साथ कोई बुराई करेगा नही और अगर करता है और फिर आप भी बुराई करते हैं तो आगे-पीछे का ही तो अन्तर हुआ, आपमें और उसमें फर्क क्या रहा ?

प्रश्न . किसीमें ९९ बुराई हो और १ अच्छाई हो तो उसका फल क्या होगा ?

उत्तर . बुराई का भी फल मिलेगा और अच्छाई का भी फल मिलेगा। ज्ञान के अनुकूल काम करने को भलाई कहते हैं और ज्ञान के प्रतिकूल काम करने को बुराई कहते हैं ।

प्रश्न . मनुष्य का मरने के बाद पुनर्जन्म होता है क्या ?

उत्तर प्राणशक्ति समाप्त हो जाय और इच्छा समाप्त न हो, तो जन्म होता है और इच्छा समाप्त हो जाय तो जन्म नही होता।

प्रश्न साधक का क्या अर्थ है ? साधक कौन हो सकता है ? उसकी जिम्मेदारी क्या है ?

उत्तर हम सब मानव हैं और मानव होने के नाते हमें साधक होना चाहिए। साधक का अर्थ है, जिसकी कोई माँग हो, और जिस पर कोई जिम्मेदारी हो। प्रत्येक मानव साधक होने के नाते सिद्धि पा सकता है। मानव-जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान नही है।

वल का दुरुपयोग न करना जिम्मेदारी है। आस्था में विकल्प पैदा न करना, कर्तव्य को पूरा करना, प्रभु-प्रेम प्राप्त करना जिम्मेदारी है। यदि हम अपने काम को ठीक-ठीक पूरा कर देते हैं तो हमारी जिम्मेदारी पूरी हो जाती है। हमारे पास अल्प वल हो या अधिक वल हो, उसके उपयोग में हमारे ज्ञान का विरोध नही होना चाहिए और कभी ऐसी वात करने को न सोचें, जो नही करनी चाहिए। सामर्थ्य और ज्ञान के अनुरूप जो कार्य हो सकता है वह काम अवश्य करना चाहिए। उसके मूल में यह वात अवश्य रहती है कि इस कर्तव्य के वदले में भोग की कामना की तो पराधीन हो जायेंगे। भोग की रुचि रखने से मोह में आसक्त हो जायेंगे। इसलिए कर्तव्य का पालन तो करना चाहिए और उसके वदले में योग चाहिए, भोग नहीं। कर्तव्य विज्ञान का जो उत्तर पक्ष है वह योग है। सही काम करने से हमें योग की प्राप्ति होती है। योग में वोध और प्रेम निहित हैं। प्राप्त परिस्थिति का ठीक उपयोग करने से प्रत्येक भाई-वहन को योग मिल सकता है, वोध मिल सकता है और प्रेम मिल सकता है। सही काम का अर्थ है, जो काम सामर्थ्य और विवेक के अनुरूप हो। जो प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नही करते और प्राकृतिक विधान का उल्लघन करते हैं, उन्हें सम्पत्ति से या प्रॉपगैण्डा से योग प्राप्त नही हो सकता। कोई भी परिस्थिति के अधीन रहता है तो वह प्रभु का प्यारा नही वन सकता, वह साधक नही वन सकता, स्वाधीन नही हो सकता।

प्रश्न : 'काम करने में सावधान, होने में प्रसन्न', इसका आशय क्या है?

उत्तर : करने में सावधान का मतलव है, जो कुछ भी आप करो उसे विधिवत् करो और उससे जो फल मिले उसमें प्रसन्नता अनुभव करो।

प्रश्न शिक्षा और दीक्षा में क्या अन्तर है?

उत्तर शिक्षा ज्ञान को वढाती है, सौन्दर्य को वनाती है और दीक्षा से लक्ष्य का निर्माण होता है।

प्रश्न . सत्सग क्या है?

उत्तर : सत्य को स्वीकार करना ही सत्सग है। ससार में मानव का अपना कुछ भी नही, केवल कर्तव्य उसका है—यह मानकर जो चलता

है वह शान्ति पाता है और कर्तव्य फल छोड़ दे तो स्वाधीन वन सकता है, उदार होकर प्रभु में आत्मीयता पैदा करे तो प्रेमी हो सकता है। कर्तव्य को समझे और अधिकाररहित होकर काम करे तो क्रोध का नाश हो जाता है। संसार के परे भी जीवन है, उस जीवन में पूरी-पूरी आस्था हो जाय तो इससे प्रभु-प्राप्ति का रास्ता खुल जाता है। साधना स्वय उदित हो जाती है। कर्तव्य किये जाना चाहिए।

काम करने के वाद जव हम विश्राम करते हैं वह भी एक जरूरी काम है। यह भी जीवन के लिए उतना ही जरूरी है, जितने वाकी काम। मनुष्य का असली जीवन योग, वोध और प्रेम को प्राप्त करना है। परिस्थिति के अनुसार सही कार्य करने से विश्राम मिल जाता है। विश्राम सम्पादित करना चाहिए।

प्रश्न हमारा दायित्व क्या है ?

उत्तर अपने को ससार से कुछ नही चाहिए, यही संसार के प्रति अपना दायित्व है। दायित्व पूरा करने से वन्धन टूटता है। यद्यपि मोह का नाश ज्ञान से होता है, तथापि दायित्व पूरा करने से भी मोह का नाश होता है।

प्रश्न इन्द्रिय-दृष्टि और बुद्धि की दृष्टि में क्या अन्तर है ?

उत्तर बुद्धि-दृष्टि के प्रभाव को अपना लो, तो काम नष्ट हो जायगा और इन्द्रिय-दृष्टि से ससार का काम पूरा हो जायगा।

प्रश्न कौन-सा धर्म सवसे अच्छा है ?

उत्तर जिस धर्म को मनुष्य मानता है वही धर्म सवसे अच्छा है।

प्रश्न भाग्य और पुरुषार्थ में क्या भेद है ?

उत्तर भाग्य का अर्थ है, प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य करना और पुरुषार्थ के माने हैं प्राप्त का सदुपयोग करना।

सुख-दुःख के सदुपयोग से जीवन वनता है। सुख का सदुपयोग है सेवा। मानव-सेवा-सघ की प्रणाली के अनुसार सुख-दुःख मात्र साधन-सामग्री है, जीवन नही है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो जीवन सुख-दुःख से अतीत है। भोग से मनुष्य के जीवन में जड़ता

आती है, पराधीनता आती है, मनुष्य स्वाधीन नही हो सकता, प्रेमी नही हो सकता। और जो परिस्थिति है, उसका सदुपयोग करने से उदारता आती है, क्लेश मिटता है और चिर शान्ति प्राप्त होती है। जो परिस्थितियाँ हमें मिली हैं, जो सुख-दु ख आया है उसका ठीक उपयोग करें तो हम अविनाशी जीवन से अभिन्न हो सकते हैं।

प्रश्न : जीवन क्या है ?

उत्तर जीवन शब्द का अर्थ है, जो अविनाशी हो, नष्ट न हो सकता हो, सदैव हो, वही जीवन है। जो चीज अपने में होती है, उसके लिए पराश्रय अपेक्षित नही होता है। अत जीवन के लिए पराश्रय और परिश्रम अपेक्षित नही है। निर्मम और निष्काम होकर मनुष्य अपने में सन्तुष्ट हो जाय, तो उसे जीवन मिल जाता है।

प्रश्न कर्तव्य-पालन से क्या लाभ है ?

उत्तर कर्तव्य-पालन करने से मनुष्य भयरहित हो जाता है, जिससे दु खो की निवृत्ति हो जाती है, गरीवी सदा के लिए मिट जाती है और मनुष्य करने के राग से छूट जाता है।

प्रश्न . इन्द्रियजन्य ज्ञान में सद्‌भाव क्यो होता है ?

उत्तर . विषयो का राग होने पर इन्द्रियजन्य ज्ञान में सद्‌भाव होता है। विषयो का राग मिटने पर अर्थात् विचारपूर्वक वैराग्य होने से बुद्धिजन्य ज्ञान का प्रभाव होता है।

प्रश्न · दु ख क्यो होता है ?

उत्तर . मनुष्य जव सुख का उपभोग करता है तो उसको दु ख होता है। सुख का उपभोग करना छोड़ दो, दु ख होगा ही नही।

प्रश्न कर्म किस प्रकार करना चाहिए ?

उत्तर . कर्म मनुष्यमात्र को प्रेमभाव से करना चाहिए। प्रत्येक करना न करना के भाव से किया जाय तभी उन्नति हो सकती है।

प्रश्न सुख और आनन्द में क्या अन्तर है ?

उत्तर सुख से दु ख दव जाता है और आनन्द से मिट जाता है।

प्रश्न चेतना क्या है ?

उत्तर चेतना सूर्य के समान है, जो स्वय प्रकाशित है और जिससे जड़ प्रकाशित होते हैं।

प्रश्न असत् क्या है ?

उत्तर जो हमेशा एक जैसा रह पाये, वह असत् है।

प्रश्न · आनन्द क्या है ?

उत्तर जो होकर कभी न मिटे, जिसके मिलने के वाद और किसीकी इच्छा न रहे, वही आनन्द है।

प्रश्न सव सन्देह दूर कव हो जाते हैं ?

उत्तर · 'ससार' और 'मैं'—इन दोनो में से किसी एक का यथार्थ ज्ञान हो जाय तव सभी सन्देह दूर हो जाते हैं।

प्रश्न : प्रभु में पूर्ण आस्था कैसे हो ?

उत्तर : एक में आस्था पूर्ण तव होती है, जव उसकी तीव्र आवश्यकता हो, क्योकि आस्था आवश्यकता के अधीन है।

प्रश्न · मन क्या है ?

उत्तर वासनाओ के समूह का नाम ही मन है। सभी वासनाओ का अन्त करने पर मन मिट जाता है और फिर काम, क्रोध, मोह आदि विकार शेष नही रहते।

प्रश्न वासनाओ का त्याग कैसे हो ?

उत्तर . वासनाओ का अन्त यथार्थ ज्ञान से होता है। ज्ञान हृदय के शुद्ध होने पर होता है। हृदय त्याग और प्रेम से शुद्ध होता है। शरीरादि किसी वस्तु को अपना न समझना, त्याग और आनन्दघन भगवान् से किसी प्रकार की दूरी न रहना प्रेम है।

प्रश्न : क्या मानव के विकास के लिए आध्यात्मिकता और नैतिकता दोनो आवश्यक हैं ?

उत्तर मानव आध्यात्मिक और नैतिक साधना का प्रतीक है। आध्यात्मिक साधना और नैतिक साधना एक ही जीवन के दो पहलू हैं। आध्यात्मिक की उपेक्षा से नैतिक साधना निर्जीव हो जायगी और नैतिकता के विना आध्यात्मिकता शून्य हो जायगी, जो मानव-स्वभाव को अभीष्ट नही है।

आध्यात्मिकता का अर्थ है अपने में अपने जीवन को पा जाना अर्थात् स्वाधीन होकर अमरत्व से अभिन्न होना और सभी के लिए उदार होना। नैतिकता का अर्थ है परपीड़ा से पीडित होकर स्वभाव से सेवापरायण होना। नैतिकता मानव को बुराई से रहित कर देती है। आध्यात्मिकता भलाई के अभिमान से रहित करती है। जब दोष की उत्पत्ति नही होती और गुणो का अभिमान नही होता, तभी परिच्छिन्नता मिट जाती है और व्यापकता आ जाती है, जो मानवमात्र की अपनी माँग है।

आध्यात्मिकता और नैतिकता जीवन के प्रत्येक पहलू में रहनी चाहिए। प्रत्येक कर्तव्य-कर्म में आध्यात्मिकता और नैतिकता में विभाजन भ्रम है।

आध्यात्मिक और नैतिक साधना ज्यो-ज्यो स्थायी होती जाती है, त्यो-त्यो मानव सभी के लिए मगलमय और हितकर होता जाता है, अर्थात् मानव-जीवन अपने लिए और जगत् के लिए मगलमय और हितकर हो जाता है। जीवन और विधान में एकता हो जाती है। सत्य से दूरी, भेद, भिन्नता शेप नही रहती। आध्यात्मिकता अचाह और उदारता में निहित है। अचाह से मानव अपने लिए तथा उदारता से जगत् के लिए उपयोगी होता है।

चेतन वह तत्त्व है, जो सदैव अपने-आपमें पूर्ण है। जड़ तत्त्व उसकी एक अवस्थामात्र है और उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। विज्ञान जड़ तत्त्व का उपयोग करता है और दर्शन चेतन तत्त्व से अभिन्न करता है। जड़ तत्त्व का उपयोग विवेकपूर्वक होने से ही आदरणीय है। अत विज्ञान को दर्शन के अधीन रहना चाहिए। तभी उसकी सार्थकता सिद्ध होती है।